ISSN No. 2454-2458

नवरचना

NAVRACHNA

एक समाजशास्त्रीय शोध पत्रिका

वर्ष 2, अंक 1 व 2, 2016

A GREFI PUBLICATION

नवरचना NAVRACHNA

वर्ष 2, अंक 1 व 2, 2016

सम्पादक
प्रोफेसर वी. पी. सिंह

सह–सम्पादक
प्रोफेसर राजेश मिश्र
प्रोफेसर प्रहलाद मिश्र
प्रोफेसर अरविन्द चौहान
प्रोफेसर परवेज अहमद अब्बासी

प्रबन्ध सम्पादक
डा. पंकज कुमार सिंह
डा. श्रीपाल चौहान
डा. राजाराम सिंह
डा. मन्जू गोयल

पुस्तक–समीक्षा सम्पादक
डा. अनूप कुमार सिंह

हिन्दी भाषा सम्पादक
डा. सूर्य नारायण सिंह
डा. रचना रंजन
प्रो. सत्यपाल सिंह
डा. सुप्रिया सिंह

सम्पादकीय सलाहकार परिषद
प्रो. योगेन्द्र सिंह, दिल्ली
प्रो. हरीश दोषी, सूरत
प्रो. सुरजन सिंह शर्मा, साहिबाबाद
प्रो. जैनेन्द्र कुमार दोषी, उदयपुर
प्रो. आनन्द कुमार, दिल्ली
प्रो. एस.बी. सिंह, नोएडा
प्रो. रणविन्दर सिंह सन्धू, अमृतसर
प्रो. कामेश्वर चौधरी, लखनऊ
प्रो. आर. शंकर, त्रिचुरापल्ली
प्रो. रघुनन्दन शर्मा, पटना
प्रो. आभा चौहान, जम्मू
प्रो. राजेश गिल, चन्डीगढ.
प्रो. अनीसा शफी, श्रीनगर
प्रो. ज्ञान प्रकाश पांडे, शिलचर
प्रो. दिवाकर सिंह राजपूत, सागर
प्रो. मौहम्मद सलीम, वाराणसी
प्रो. जगदीश कुमार पुण्डीर, मेरठ
प्रो. प्रदीप सिंह चूडावत, बडोदरा
प्रो. ए. पी. सिंह, वाराणसी
प्रो. खजान सिंह सांगवान, रोहतक
प्रो. ज्वाला प्रसाद पचौरी, श्रीनगर
प्रो. कमला गणेश, मुंबई
प्रो. किरनप्रीत कौर, चंडीगढ.
प्रो. आर. जी. सिंह, भोपाल
प्रो. आर. डी. मोर्य, महू
प्रो. विपुल सोमानी, सूरत
प्रो. जे. सी. पटेल, अहमदाबाद
प्रो. जय प्रकाश त्रिवेदी, आनन्द
प्रो. हेमीक्षा राव, राजकोट
प्रो. जे. पी. सिंह, पटना
प्रो. भगवान सिंह विष्ट, नैनीताल
प्रो. मनजीत चर्तुवेदी, वाराणसी
प्रो. रवि प्रकाश पांडे, वाराणसी
प्रो. तेज मल दक, उदयपुर
प्रो. सतीश कुमार शर्मा, शिमला
प्रो. रश्मि जैन, जयपुर
प्रो. अनिल भार्गव, जयपुर
प्रो. मनीष कुमार वर्मा, लखनऊ
डा. भगवती प्रसाद बडोला, धर्मशाला
डा. दिवाकर सिंह राजपूत, सागर
डा. विनीता सिंह, रांची
डा. स्मिता सुरेश अवाचार, ओरंगाबाद
डा. पद्मा रानी, मणिपाल
डा. अंजुला गुप्ता, मेरठ
डा. राज कुमार कायस्थ, शिमला
डा. नीना रोजी केलहन, अमृतसर
डा. मौ. अकरम, अलीगढ.
डा. वाई. एस. भदौरिया, लखनऊ
डा. विशेष कुमार गुप्ता, मुरादाबाद
डा. एम. एन. सिंह, इलाहाबाद
डा. रविन्द्र बंसल, बरेली
डा. महेश शुक्ला, रीवा
डा. मनु गौराहा, उज्जैन
डा. लता कुमार, मेरठ
डा. मानवेन्द्र प्रताप सिंह, गोरखपुर
डा. अय्यूब खान, ग्वालियर
डा. आशीष सक्सेना, इलाहाबाद
डा. इति तिवारी, इलाहाबाद
डा. प्रमोद कुमार शर्मा, रायपुर
डा. सर्वेश दत्त त्रिपाठी, दिल्ली

ISSN No. 2454-2458 *@ NAVRACHNA* *www.grefiglobal.org*

नवरचना NAVRACHNA

एक समाजशास्त्रीय शोध पत्रिका

वर्ष 2 *अंक 1&2* *जून–दिसम्बर 2016*

अनुक्रमणिका

शोध लेख

वैश्वीकरण और ग्रामीण संचार व्यवस्थायें 3
वीरेन्द्र पाल सिंह

सामाजिक संरचना, साहित्य और नारीवादी दृष्टिकोण 17
प्रीति तिवारी

बैगा जनजाति में महिलाओं की सामाजिक प्रस्थितिः 30
एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण
राजाराम सिंह

भारतीय सामाजिक व्यवस्था : एक समग्रवादी व्याख्या 37
श्रीपाल चौहान

जाति और जाति विनाश पर डा0 अम्बेडकर का दर्शन, उनकी विरासत 44
और जाति विनाश का समसामयिक यथार्थ
हरनाम सिंह वर्मा

पुस्तक समीक्षा

माजी, महुआ 2010रू मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ 61
रचना रंजन

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना **NAVRACHNA**
www.grefiglobal.org/journals/navrachna2016
वर्ष 2, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2016, पृ. 3–16

वैश्वीकरण और ग्रामीण संचार व्यवस्थाएं

वीरेन्द्र पाल सिंह

वैश्वीकरण की प्रक्रिया (निजीकरण और उदारीकरण के साथ) न केवल विकासशील देशों को प्रभावित कर रही हैं। अपितु विकसित देशों को भी प्रभावित कर रही हैं। वैश्वीकरण को विश्व स्तर पर लोगों की बढ़ रही पारस्परिक निर्भरता के रुप मे परिभाषित किया जा सकता है; इसको एकाकी वैश्विक बाजार में रहने के प्रभाव के रुप में देखा जा सकता है, परन्तु मूल रुप से इसका सम्बन्ध हमारे जीवन की संस्थाओं में हो रहे परिवर्तन से है (गिडिन्स 1999). वैश्वीकरण की इस प्रक्रिया ने जहाँ एक ओर समाज वैज्ञानिकों मे एक बहस को जन्म दिया है वहीं दूसरी ओर नीति निर्माताओं को भी इसे एक नीति के रुप में अपनाने पर भी बाध्य किया है। वैश्वीकरण जहाँ आज आर्थिक नीति का अभिन्न अंग है तथा इसके पक्ष व विपक्ष में अनेकों विद्वानों, ने विचार व्यक्त किये है कई एक मुद्दों पर इसके विरुद्ध आन्दोलन भी खड़े हो गये हैं। वैश्वीकरण के साथ–साथ पिछले कुछ वर्षों में संचार के क्षेत्र में उपग्रहों के उपयोग ने विश्व स्तर पर संचार की सुविधा प्रदान की है। इस उपग्रह तकनीक तथा कम्प्यूटर तकनीकी के प्रयोग से एक नवीन प्रकार की संचार व्यवस्था ने जन्म लिया है जिसे हम 'वैश्विक संचार व्यवस्था' (global communucation system) की संज्ञा दे सकते हैं। संचार की इस नवीन व्यवस्था की प्रमुख विशेषता इसकी वैश्विक स्तर पर संचार स्थापित करने ही क्षमता है जो इसे पूर्व की संचार व्यवस्थाओं से अलग करती है। प्रस्तुत शोध पत्र में भारत में वैश्वीकरण तथा संचार व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों के फलस्वरुप ग्रामीण संचार की व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों पर प्रकाश डाला जायेगा। प्रथम भाग में वैश्वीकरण की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है ; द्वितीय भाग में संचार व्यवस्थाओं के प्रकारों की विवेचना की गयी है तथा तृतीय भाग मे भारत के ग्रामीण क्षेत्रों की संचार व्यवस्था में पिछले दो दशकों में हुए परिवर्तनों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

---

*प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, सेन्टर फॉर ग्लोबेलाइजेशन एण्ड डवलेपमेन्ट स्टडीज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद– 211 002 उ. प्र.।

वैश्वीकरण की अवधारणा

सामान्य रुप से वैश्वीकरण को परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया के रुप में देखा जा सकता है जो विश्व के सभी क्षेत्रों में आर्थिक, तकनीकी, राजनीति, संचार माध्यम, संस्कृति तथा पर्यावरण आदि सभी को विभिन्न तरीकों से प्रभावित करती है। डेविड हैल्ड व उनके सहयोगियों (1999:2) के अनुसार, "वैश्वीकरण को प्रारम्भिक रुप से समकालीन सामाजिक जीवन के सभी पक्षों –सांस्कृतिक से अपराधिक, वित्तीय से आध्यात्मिकता में विश्वव्यापी अन्तःसंबद्धता के विस्तारीकरण, (widening) गहनीकरण (deepening) तथा तीव्रीकरण (speeding up) के रुप में विचारा जा सकता है।"

विद्वानों में वैश्वीकरण के अन्तःसंबद्धता वाले पक्ष पर तो सहमति है परन्तु इसके अन्य पक्षों पर उनमें भारी मतभेद हैं। डेविड हैल्ड ने वैश्वीकरण पर कार्य करने वाले विद्वानों को तीन प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया है: अतिशयवादी; संशयवादी तथा रुपान्तरणवादी।

वैश्वीकरण पर अतिशयवादी सोच रखने वाले विद्वानों का विश्वास है कि वैश्वीकरण मानव इतिहास में एक नये युग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें सभी प्रकार के सम्बन्ध राष्ट्र–राज्यों से ऊपर उठ कर विश्व स्तर पर एकीकृत हो रहे है तथा इसके परिणामस्वरुप इन्हें (राष्ट्र–राज्यों को) निरन्तर अप्रासंगिक बना रहे हैं। पूंजी, वस्तुओं, व्यक्तियों तथा विचारों के निरन्तर बढ़ रहे सीमापार प्रवाह इस युग को पुनः दो उप–श्रेणियों में रखा जा सकता है। सकारात्मक अतिशय वादी तथा नकारात्मक अतिशयवादी। सकारात्मक अतिशयवादी मुख्य रुप से वे विद्वान है जो खुले विश्व बाजार की वकालत करते है और यह मानते हैं कि यह प्रक्रिया भविष्य मे चरम आर्थिक वृद्धि की गारंटी देगी तथा दीर्घकाल मे, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन स्तर में सुधार ले आयेगी (ओहमे 1991:1995); तथा नकारात्मक अतिशयवादी जिनमें प्रमुख रुप से आलोचनावादी चिंतक (critical theorists) तथा नव–मार्क्सवादी विद्वान (मार्टिन एवं शू मैन 1997; रीच 1991; बैक 1997; श्नेपर 1994; वाइजमैन 1997, हॉपकिन्स व वालेरस्टीन 1996) सम्मिलित है, वैश्वीकरण के नकारात्मक प्रभावों को आलोचनात्मक रुप से प्रस्तुत करते हुए वैश्वीकरण की अवधारणा को पूर्णरुप से अस्वीकृत कर देते हैं।

संशयवादी विद्वान भी वैश्वीकरण के आर्थिक पक्ष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए यह तर्क देते है कि इस अन्तराष्ट्रीय आर्थिक एकीकरण की प्रक्रिया में कुछ भी नया नहीं है। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व काल से इसकी तुलना की जा सकती है। वे वैश्वीकरण के स्थान पर 'अन्तर्राष्ट्रीयकरण' शब्द का प्रयोग करना सही मानते है (हिर्स्ट एवं थाम्पसन 1996; वीज 1997)। वे यह भी तर्क देते है कि राष्ट्र–राज्यों की भूमिका अभी भी उतनी है मजबूत है जितनी हमेशा रही है।

रुपान्तरणवादी विद्वान जबकि यह तर्क देते हैं कि उन सभी प्रमुख आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों, जो आज विश्व के सभी व्यक्तियों का आभासी रुप से (virtually) प्रभावित कर रहे हैं, की केन्द्रीय संचालक शक्ति वैश्वीकरण है। वे वैश्वीकरण को तकनीकी, आर्थिक गतिविधि, शासन–विधि (governance), संचार आदि के क्षेत्रों में परिवर्तन की निकट रुप से जुड़ी हुई प्रक्रियाओं के कुल परिणाम के रुप में देखते हैं। इन सभी क्षेत्रों में होने वाले विकास परस्पर सुदृढ़ता प्रदान करने वाले अथवा स्वतुल्य (reflexive) होते है जिससे कि कारण तथा परिणाम के मध्य कोई भेद नहीं किया जा सकता। रुपान्तरवादी (व्यापार, निवेश,

प्रवजन, सांस्कृतिक शिल्पकृतियों (artifects), पर्यावरणीय कारको आदि के) सीमापार प्रवाहों के समकालीन प्रतिमानों को किसी भी ऐतिहासिक दृष्टान्त से भिन्न मानते हैं। इस प्रकार के प्रवाह सभी राष्ट्रो को आभासी रुप से एक विश्व व्यवस्था में एकीकृत करते है तथा सभी स्तरों पर एक बड़ा परिवर्तन लाते हैं। इस प्रकार वैश्वीकरण का प्रभाव केवल आर्थिक तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं तक ही सीमित नहीं है अपितु इसके प्रभाव को संचार तथा सामाजिक व सांस्कृतिक संस्थाओं पर भी देखा जा सकता है।

भारत में वैश्वीकरण

भारत में वैश्वीकरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ 1990 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में हुआ। इससे पूर्व भारत की अर्थव्यवस्था मिश्रित अर्थव्यवस्था (mixed econimy) थी जिसमें प्राइवेट तथा सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों के विकास पर बल दिया गया था। आर्थिक प्राथमिकता के क्षेत्रों को सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के रुप मे स्थापित किया गया जिनका स्वामित्व व नियन्त्रण राष्ट्रीय सरकार के हाथ में रखा गया तथा अन्य क्षेत्रों मे निजी–प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देने हेतु खुला रखा गया। परन्तु 1990 तक सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ उपक्रमों ने जहाँ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास में अच्छा योगदान किया तो वही अन्य कई उपक्रमों में अप्रभावी प्रबन्धन, लालफीताशाही आदि समस्याओं के फलस्वरुप वे अलाभकारी इकाईयों मे बदल कर सरकार पर बोझ बन गयीं। इसके अतिरिक्त भारत का विदेशी मुद्रा कोष भी दयनीय स्थिति मे पहुँच गया था। यह एक ऐसा काल था जब अर्न्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण लेने के लिए व्यापार के क्षेत्र में कुछ आवश्यक शर्तों का निर्धारण कर दिया गया था जिन्हें डंकल प्रस्ताव (dunkal proposal) के नाम से जाना जाता था। सभी राष्ट्रों पर विश्व व्यापार संगठन द्वारा व्यापार हेतु एक संधि पर हस्ताक्षर करने हेतु दबाव डाला जा रहा था, जिसे गैट (General Agreement on Tarrifs and Trade-GATT) के नाम से जाना जाता है। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने के पश्चात कोई भी राष्ट्र नयी आर्थिक नीति–जिसके तीन प्रमुख संघटक–वैश्वीकरण, निजीकरण तथा उदारवाद थे, को अपनाने के लिए बाध्य था (सिंह 2005:1)। भारत ने वर्ष 1993 में गैट संधि पर हस्ताक्षर किये तथा इसके साथ ही भारत में वैश्वीकरण का दौर प्रारम्भ हुआ। जिसके फलस्वरुप आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया द्वारा भारतीय अर्थ–व्यवस्था को नयी वैश्विक अर्थव्यवस्था (New Global Economy) से जोडने का कार्य प्रारम्भ हुआ। इसके साथ ही भारत ने संचार के क्षेत्र में एक नयी क्रान्ति का प्रादुर्भाव अगले दो दशकों में हो गया।

संचार व्यवस्थाओं के प्रारुप

लुसियन डब्ल्यू पाई (1963:24-29) ने संचार व्यवस्था के तीन प्रारुपों का उल्लेख किया हैः परम्परागत संचार व्यवस्था; आधुनिक संचार वयवस्था; तथा संक्रमण शील संचार व्यवस्था। परम्परागत समाजों में संचार प्रक्रिया की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसका एक व्यवस्था के रुप में दूसरी सामाजिक प्रक्रियाओं इसका कोई भिन्न स्वरुप नहीं था। परम्परागत व्यवस्थाओं में व्यवसायिक संचार कर्ताओं का नितान्त अभाव था। तथा इस प्रक्रिया में भाग लेने वाले सभी व्यक्ति ऐसा समुदाय में अपनी सामाजिक अथवा राजनीतिक प्रस्थिति के आधार पर अथवा मात्र अपने सहयोग के सम्बन्धों के आधार पर करते थे। सूचना का प्रवाह प्रायः सामाजिक सोपान क्रम के साथ अथवा प्रत्येक समुदाय में सामाजिक सम्बन्धों के व्यक्तिगत क्रम में होता था। इस प्रकार परम्परागत

समाजों में संचार की प्रक्रिया सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था अथवा संचार की विषय वस्तु से स्वतन्त्र नहीं थी। अब क्योंकि संचार प्रक्रिया परम्परागत समाज की संरचना से इतना अधिक से सम्बद्ध थी कि सभी सम्प्रेषणों का मूल्यांकन व्याख्या तथा प्रतिउत्तर की प्रक्रिया सीधे तौर पर संचारकर्ता तथा प्राप्तकर्त्ता के मध्य पाये जाने वाले विवेचन द्वारा रंगी होती थी। आज भी कई संक्रमणशील समाजों में विभिन्न संचार माध्यमों की प्रमाणिकता का मूल्यांकन सूचना के स्त्रोत् से उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध ा की महत्ता के आधार पर करने की एक ठोस प्रवृत्ति पायी जाती है।

एक आधुनिक संचार व्यवस्था में दो अवस्थाएं अथवा स्तर सम्मिलित होते हैं। इनमें से पहला, उच्च संगठित, स्पष्ट रुप से संरचित जन संचार माध्यम है। तथा दूसरे, वे अनौपचारिक जनमत मार्गदर्शक होते हैं जो कुछ सीमा तक परम्परागत व्यवस्थाओं की भाँति ही आमने–सामने से संचार क्रिया करते हैं। संचार प्रक्रिया का जनसंचार माध्यम वाला भाग औद्योगिक तथा प्रोफेशनल दोनों स्वरुप लिए होता है तथा यह देश की प्रशासनिक तथा सामाजिक प्रक्रियाओं दोनों से अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होता है। एक उद्योग तथा एक प्रोफेशन दोनों ही रुपों में संचार का आधुनिक क्षेत्र विशिष्ट तथा सार्वभौमिक मानकों से स्वनिर्देशित होता है। विशेष रुप से जनसंचार व्यवस्था इस प्रस्थापना पर संचालित होती है कि घटनाओं की वस्तुनिष्ठ तथा निष्पक्ष रिपोर्टिंग करना सम्भव है तथा राजनीति को एक उदासीन तथा अपक्षपाती (non-partison) दृष्टिकोण से अच्छी तरह से देखा जा सकता है। यही कारण है कि पक्षपाती प्रेस भी वस्तुनिष्ठ दिखायी देने का प्रयास करती है।

एक आधुनिक संचार व्यवस्था जनसंचार माध्यमों के अलावा कहीं अधिक चीजें सम्मिलित होती है; सामान्य तथा विशेषज्ञ अनौपचारिक जनमत मार्गदर्शकों के मध्य, तथा जागरुक तथा निष्क्रिय जनता के मध्य जटिल अन्र्तसम्बन्ध सम्पूर्ण संचार व्यवस्था के अभिन्न अंग हैं। अवश्य ही, आधुनिक औद्योगिक समाजों में निरन्तर बढ़ रहे यान्त्रिक संचारों तथा भौतिक यात्राओं तथा विशेषज्ञता एव विषयों के प्रभावशाली संगठनों की निरन्तर बढ़ोतरी से, विरोधाभासी तरीके से, सीधे मुख के द्वारा संचार पर निर्भरता में वृद्धि हुई है।

आधुनिक संचार व्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि दोनों स्तरों के मध्य व्यवस्थित सम्बन्ध रहते हैं जिससे कि संचार की पूरी क्रिया समुचित रुप से 'द्वि–पद प्रवाह' (two-step flow) से जुड़ा देख सकते हैं। विशेष रुप से, राजनीतिक संचार केवल जन संचार माध्यम पर ही निर्भर नहीं करता अपितु प्रोफेशनल संचार कर्ताओं तथा वयकितगत तथा आमने–सामने के संचार माध यमों के नेटवर्कों में प्रभावशाली पदों पर आसीन व्यक्तियों के मध्य एक संवेदनशील अन्तःक्रिया होती है। इन सभी से परे, दोनों स्तरों के बीच अन्तःक्रियाएँ प्रतिपुष्टि (फीड–बैक) कार्यविधियों की स्थापना के रुप में होती है। जो सन्देशों के विभिन्न स्वरुपों की अन्र्तवस्तु तथा प्रवाह में समायोजन/अनुकूलन उत्पन्न करते हैं। जनसंचार माध्यमों के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को निरन्तर इस बात की जानकारी उपलब्ध होती रहती है कि उनके सम्प्रेषण उन सभी व्यक्तियों द्वारा किस प्रकार से ग्रहण किये जा रहे है जो संचार के अनौपचारिक प्रतिमानों पर नियन्त्रण रखते हैं। इसी प्रकार, वे जो अनौपचारिक प्रतिमानों को जीवन्तता प्रदान करते हैं अपनी क्रियाओं को निरन्तर उन तरीकों से समायोजित करते रहते है जिन्हें जनसंचार माध्यम किसी भी समय जनमत को परिवर्तित करने हेतु उपयोग करते हैं।

संक्षेप में, आधुनिक संचार व्यवस्थाएं संचारों की उच्च तकनीकियों तथा व्यवसायिक प्रक्रियाओं (professional process) को व्यक्ति से व्यक्ति के संचारों अनौपचारिक, समाज– आधारित, तथा गैर विशेषज्ञ प्रक्रियाओं का विलयन (fusion) हैं। इससे हमें ज्ञात होता है कि संचार–व्यवस्थाओं के आधुनिकीकरण का मापन केवल इस पर पूर्णतः अथवा प्राथमिक रुप से इस बात से सम्बन्धित नही है कि इन संचार व्यवस्थाओं में किस सीमा तक आधुनिक तकनीकी को इन समाजों में प्राप्त कर लिया गया है; इसके बदले आधुनिकीकरण का वास्तविक परीक्षण इस बात से किया जाना चाहिये कि जनसंचार माध्यमों तथा अनौपचारिक आमने–सामने की संचार व्यवस्था में कितनी प्रभावशाली 'फीड–बैक' प्रणाली है। इस प्रकार आधुनिकीकरण संचार की औपचारिक संस्थाओं तथा संचार की सामाजिक प्रक्रियाओं के मध्य एकीकरण पर उस सीमा तक टिका होता है जिस सीमा तक ये परस्पर संवेदनशीलता से प्रतित्तुर देती हैं।

इन सभी विवेचनों को ध्यान में रखते हुए हम संक्रमणशील संचार व्यवस्थाओं की आवश्यक विशेषताओं पर प्रकाश डालते है। संरचनात्मक रुप मूल विचार इसकी द्विविभाजनकारी तथा विखण्डित प्रकृति है क्योंकि यह प्रायः एक व्यवस्था में घटती–बढ़ती मात्रा में मिलती है जो आधुनिक तकनीकी पर निर्भर है, नगरीय केन्द्रित है; तथा इसकी पहुँच जनसंख्या के अधिक नगरीकृत भाग तक होती है; तथा साथ ही यह एक जटिल व्यवस्था है जो परम्परागत व्यवस्थाओं की उन विभिन्न मात्राओं में पुष्टि करते हैं जिनमें यह आमने–सामने के सम्बन्धों पर निर्भर करते हैं तथा सामाजिक तथा सामुदायिक जीवन के प्रतिमानों को मानने के लिए बाध्य होते हैं। इसकी आवश्यक विशेषता यह है कि दोनों स्तर तथा पृथक भाग निकट रुप से एकीकृत नहीं होते तथा प्रत्येक एक न्यूनाधिक स्वचालित संचार व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है।

संक्रमणशील समाज में नगर आधारित संचार प्रक्रियाएं पृथक ग्राम–आधारित व्यवस्थाओं को केवल अनियमित रुप से भेद पाती हैं। यहाँ तक कि किसी भी देश में सम्पर्क का कोई व्यवस्थित प्रतिमान प्रायः नहीं मिलता, तथा विशेष जाति स्वभाव की प्रवृत्तियाँ किसी भी समुदाय मे उन व्यक्तियों का निर्धारण करने मे निर्णायक होती हैं कि जो जनसंचार माध्यमों के सन्देशों का सम्प्रेषण तथा व्याख्या स्थानीय व्यवस्था के सहभागियों को करने मे भूमिका का निर्वाह करते हैं। एक समुदाय से दूसरे समुदाय तक इन संचारकर्ताओं की विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक प्रस्थिति में अन्तर इस बात पर निर्णायक प्रभाव डाल सकते है कि विभिन्न उप–व्यवस्थाएं, जन संचार व्यवस्था से किस प्रकार से सम्बन्धित हैं। निश्चित रुप से, अधिकतर संक्रमणशील समाजों के विभिन्न भागों मे गांव आपस में कम मात्रा में संचार रखते है जितना कि वे पृथक रुप से नगरीय केन्द्रों से रखते हैं। इस प्रकार ये एक ऐसे पैटर्न का निर्माण करते हैं जिसकी तुलना साइकिल के एक ऐसे पहिये से की जा सकती है जिसमें तिल्लियाँ (spokes) तो धुरी (hub) से जुड़े है परन्तु जिसका कोई बाह्य रिम (rim) नहीं है अथवा तिल्लियों में बिना किसी प्रकार के सीधे सम्बन्ध के। इस प्रकार हम देखते हैं कि संक्रमणशील संचार व्यवस्था में ग्रामीण तथा नगरीय व्यवस्थाएं पृथक व विखण्डित होती है जिससे सूचना का प्रवाह सुचारु रुप से नहीं होता।

अतः राजनीतिक विकास की अधिकतर समस्याएं उन तरीकों पर विचार करने से है जिनके द्वारा इस प्रकार की विखण्डित संचार व्यवस्थाएं एक राष्ट्रीय व्यवस्था में अधिक प्रभावी रुप से एकीकृत हो जाती हों। तथा जो मानवीय सहयोग के अनौपचारिक प्रतिमानों की अखण्डता को फिर

भी बनाये रखने मे सक्षम हो। इस प्रकार विकास में जन संचार माध्यमों की व्यवस्था का राष्ट्र के सभी सामुदायिक आयामों मे निरन्तर बढ़ता प्रभावी भेदन सम्मिलित है; जबकि इसी समय अनौपचारिक (संचार) व्यवस्था को जनसंचार व्यवस्था से अन्तःक्रिया करने की क्षमता भी विकसित कर लेनी चाहिये जिससे कि वह संचार के बड़े प्रवाह का लाभ उठा सके, साथ ही अपने सहभागियों में समुदाय की भावना भी बनाये रखे। यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि विकास की प्रक्रिया आधुनिकीकृत, नगरीय अथवा जनसंचार व्यवस्था पर अधिक निवेश करने की अपेक्षा इस बात पर अधिक निर्भर करती है कि अनौपचारिक ग्रामीण व्यवस्थाओं का परस्पर तथा जनसंचार व्यवस्था में कितना समायोजन हो रहा है। निश्चित रुप से आधुनिक क्षेत्र में आवश्यकता से अधिक निवेश इनके मध्य और अधिक असंतुलन को उत्पन्न कर देगा तथा इस प्रकार से संक्रमणशील संचार व्यवस्था और अधिक मात्रा द्विविभाजित हो जायेगी।

इन तीनों संचार व्यवस्थाओं में सूचना सम्प्रेषण के परिमाण, (volume) वेग, (speed) तथा (accuracy) विशुद्धता की दृष्टि से भी अन्तर पाये जाते हैं। एक आधुनिक संचार व्यवस्था समरुप सन्देशों के प्रवाह को एक बडी मात्रा में विस्तृत श्रोता समूह तक प्रेषित करने की क्षमता रखती है। इसके विपरीत परम्परागत व्यवस्था केवल सीमित परिमाण में सन्देशों को प्रेषित कर सकती है, वह भी बहुत धीमी गति से, यद्यपि कुछ तथ्यात्मक समाचार बहुत तीव्र गति से फैल सकते हैं तथा इसके पुनरावृत्ति में कई भिन्नताएं हो सकती हैं। जनसंचार व्यवस्था में संचार के विशुद्ध परिमाण मे प्रवाह सम्भव होने का अर्थ, आधुनिक व्यवस्था में अनौपचारिक, व्यक्ति से व्यक्ति के स्तर पर प्रकार्य का अधिकतम भाग व्यापक प्रवाह से विशिष्ट सूचनाओं को अलग करके विशिष्ट श्रोताओं के उपभोग हेतु उपलब्ध कराना है। अतः जनमत मार्गदर्शकों की भूमिका विशिष्ट विषयों के साथ समय तथा ऊर्जा का निवेश करने की है तथा यह आश्वस्त करने की है कि उन पर निर्भर व्यक्तियों तक विशेष विषय से सम्बन्धित सूचना पूर्ण तथा यथाशीघ्र पहुँच जाये। बहुत अधिक मात्रा में सन्देशों के प्रसारण का एक अर्थ यह भी है कि सूचनाओं के अथाह प्रवाह में कई सन्देश आसानी से विलुप्त हो जाते हैं। तथा इनक पर व्यापक श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करने के लिए इनका पुर्नप्रसारण कुछ निश्चित समयान्तराल पर करना आवश्यक होता है।

एक परम्परागत व्यवस्था में संचार प्रक्रिया में सक्रिय सहभागिता को रोकने की प्रमुख समस्या घटना के पूर्ण–चित्रण करने हेतु सूचनाओ की अपर्याप्त मात्रा थी। अतः व्यक्ति जनमत मार्गदर्शकों के पास समुदाय को टुकड़ो मे प्राप्त की हुई सूचनाओं का अर्थ जानने के लिए जाते थे। जनमत मार्गदर्शक की कुशलता इस बात में निहित थी कि वह उपस्थित लोगों द्वारा टुकड़ों में प्राप्त सूचनाओं के संकेतो को एक साथ जोड़कर उनकी विस्तार से व्याख्या कर सके। इस प्रकार से परम्परागत व्यवस्था समुदाय के बुद्धिमान व्यक्तियों तथा काल्पनिक कथा कहने वालों की भूमिका पर निर्भर करती थी जिन्हें सत्य का भांप लेने के लिए कुछ शब्द ही काफी थे, तथा जो सूचनाओं के सीमित प्रवाह को विस्तार दे सकते थे।

एक संक्रमणकालीन व्यवस्था में परम्परागत और आधुनिक दोनों प्रकार की संचार व्यवस्थाओं की विशेषताओं का मिश्रण पाया जाता है। इन व्यवस्थाओं में प्रायः संचार के परिमाण, वेग तथा प्रवाह की अविरलता को बनाये रखने तथा नियन्त्रण करने के लिए आवश्यक प्रणलियों का अभाव होता है। संक्रमणशील समाजों में संचार प्रक्रिया के जन–सम्पर्क साधनों के क्षेत्र सामान्य रुप से

सूचना प्राप्ति व प्रसार के लिए विदेशी तथा अन्तर्राष्ट्रीय सूचना तन्त्रों पर बड़ी मात्रा में निर्भर करते हैं ; परन्तु उनके पास यह चुनने का कोई आसान उपाय नहीं होता कि इसमें से किन सूचनाओं को पुनः प्रसारण किया जाये। इसके परिणाम स्वरुप प्रसारित सूचनाओं में महत्व तथा उपयुक्तता की दृष्टि से अनियमितता का तत्व होता है। इससे भी अधिके गम्भीर समस्या ऐसे जनमत मार्गदर्शकों का अभाव पाया जाना है जो जनसंचार माध्यम द्वारा प्रसारित अथाह सन्देशों से महत्वपूर्ण सन्देशों को चुनकर अलग कर सकें तथा विशिष्ट श्रोताओं का इस ओर ध्यान आकर्षित कर सकें। परम्परागत व्यवस्थाओं पाये जाने वाले व्यक्ति जो कुछ सीमा तक सक्रियावादी होते है तथा आमने–सामने की संचार व्यवस्था मे महत्वपूर्ण पदों पर होते हैं उनका विशिष्ट कौशल संचार के अथाह प्रवाह से महत्वपूर्ण सूचनाओं को चुनने की अपेक्षा अल्प–सूचना को विस्तार देने में होता है। आधुनिक तथा संक्रमणशील व्यवस्थाओ में अनौपचारिक जनमत मार्गदर्शकों के कौशल में पाये जानी वाली उपरोक्त भिन्नता के कारण, संक्रमणशील व्यवस्था में दोनों स्तरों पर संचार का वेग मे काफी असमानता उत्पन्न हो जाती है। संक्रमणशील व्यवस्थाओं का जनसंचार क्षेत्र, इसमें अपर्याप्त कर्मचारियों, तथा असंतोषजनक रुप से वित्त प्रबन्धित संगठन के कारण, यद्यपि ये परम्परगत रुप बंधी व्यवस्थाओं की संचारों के पुनः प्रसारण की क्षमता तो बहुत अधिक सीमा तक बढ़ा देते है, परन्तु ये संचार के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह के साथ पूर्ण रुप से गति बनाये रखने में अक्षम होते हैं। संचार की वह सीमित दर जिस पर उप–व्यवस्थाएं जनसंचार व्यवस्था के प्रवाह को शुद्धता से परावर्तित कर सकती हैं, संक्रमणशील समाजों मे समान्य रुप से पायी जाने वाली एक प्रमुख तनाव को उत्पन्न करती है। क्योंकि अब यह स्पष्ट हो चुका है कि इन समाजों की समस्या सिर्फ अर्न्तराष्ट्रीय अथवा विश्व संस्कृति के तत्वों के साथ स्थानीय अभ्यासों तथा भावनाओं के साथ जोड़ने की नहीं है, अपितु उनके द्वारा प्रायः आधुनिकता की एक अधूरी अथवा गलत धारणाओं के साथ तथा स्थानीयता के आंशिक रुप से असंतुष्टि के साथ परिचालित होने की है।

संचार व्यवस्थाओं के उपरोक्त प्रारुप के आधार पर समकालीन भारतीय समाज में ग्रामीण संचार व्यवस्थाओं के प्रतिमानों को ऐतिहासिक सन्दर्भ मे तथा साथ ही पिछले दो दशकों में हुए वैश्वीकरण तथा संचार क्रान्ति के परिप्रेक्ष्य मे समझा जा सकता है।

भारत में ग्रामीण संचार व्यवस्था

स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में ग्रामीण संचार व्यवस्था की प्रकृति प्राथमिक रुप से एक परम्परागत व्यवस्था थी जिसका प्रमुख आधार आमने–सामने का संचार तथा लोक माध्यम थे। संचार की प्रक्रिया दिन–प्रतिदिन की गतिविधियों का ही हिस्सा थी तथा इसके लिए कोई विशेष संस्थाएं तथा संचारकर्ता नहीं थे। संचार प्रक्रिया ग्रामीण समाज की अन्य संस्थाओं जैसे बाजार (हाट), मन्दिर/मस्जिद, चौपाल, मेले आदि की प्रक्रियाओं में समावेशित थी। इस संचार व्यवस्था का रुपान्तरण ब्रिटिश काल आधुनिक जनसंचार माध्यमों के आगमन से प्रारम्भ हुआ। सबसे पहले प्रिंट माध्यमों ने नगरीय क्षेत्रों मे अपनी पैठ बना ली तथा समाचार पत्रों, पत्रिकाओं व पुस्तकों का प्रकाशन किया जाने लगा। परन्तु इनका प्रसार गांवो में सामान्यतः नगण्य ही रहा जिसका एक बड़ा कारण ग्रामीण जनसंख्या में भारी मात्रा में अशिक्षा थी। जनसंचार माध्यमों का एक अन्य स्वरुप बीसवीं शताब्दी के पूर्व भाग में सिनेमा के रुप में आया; जब 1912 पहली मूक फिल्म 'पुंडालिक' बनी। इसका निर्माण एक ब्रिटिश कम्पनी के सहयोग से किया गया था। पहली भारतीय मूक फिल्म

'राजा हरिश्चन्द्र' 1913 में बनीं। अर्देशिर ईरानी की फिल्म 'आलमआरा' पहली बोलती फिल्म (Talkies) थी, जिसके कारण सिनेमाघरों को टाकीज़ (Talkies) के नाम से जाना जाता था। इस काल मे सिनेमा का प्रभाव प्रायः नगरों तक ही सीमित रहा। आजादी के बाद के वर्षो में हिन्दी सिनेमा के साथ–साथ क्षेत्रीय सिनेमा के निर्माण में तेजी आयी। परन्तु ग्रामीण क्षेत्र के लोगों के लिए सिनेमा आर्कषण का एक बड़ा केन्द्र तो था परन्तु ज्यादातर टाकीजों के नगरों व कस्बों मे स्थित होने के कारण वे इसका आनन्द प्रायः किसी कार्यवश नगर आने पर ही ले पाते थे। जनसंचार माध्यमों के समुचित मात्रा में प्रसार के अभाव में सिनेमा के प्रचार हेतु चौराहों पर होर्डिंग्स, दीवारों पर पोस्टर लगाकर किया जाताथा। साथ ही तांगा अथवा साइकिल रिक्शा पर चारों ओर पोस्टर लगाकर इस पर ग्रामोफोन व एम्पलीफायर मशीन की सहायता से गानों को बजाया जाता था व बीच–बीच में सिनेमा की उद्घोषणा की जाती थी। इसके अतिरिक्त, सिनेमा के दो होर्डिंग्स को त्रिभुजाकार आकार देकर एक ट्राली पर रखकर बैंड–बाजे के साथ नगर की प्रमुख सड़कों पर घूमाया जाता था। 1960 से 1980 तक के दशक मे सिनेमा गांव व शहर दोनों आकर्षण का प्रमुख केन्द्र तो रहा परन्तु अभी भी इसकी पहुंच ग्रामीण जनसंख्या तक कम ही थी; क्षेत्रीय व स्थानीय प्रदशर्नी, मेलों आदि में कइ अस्थायी सिनेमाघर बनाकर फिल्मों का प्रदर्शन किया जाता जिसके प्रमुख दर्शक ग्रामीण व्यक्ति हुआ करते थे। कुछ प्रकरणों में जहाँ मेला पूरी रात चलता था; उदाहदणार्थ–मेरठ का नौचन्दी मेला, सिनेमा घरों में 4 की बजाय 6 शो कर दिये जाते थे (रात्रि में 12–3 व 3–6)। इस प्रकार सिनेमा धीरे–धीरे नगरीय व ग्रामीण जनसंख्या की प्रमुख आवश्यकता बन गया।

भारत के शहरों व कस्बों में पान की दुकान, चाय की दुकान, आदि उसी प्रकार से स्थानीय चर्चा व संचार व सूचना का केन्द्र रहे है जिस प्रकार इटली में तबाची (Tabachi) अथवा फ्रांस में टेबेक (Tabach)। इन स्थानों पर प्रायः व्यक्तियों का छोटा समूह (4–5 व्यक्तियों का) बना रहता है। यहां पर आपस में हर विषय पर चर्चा की जाती है; पान–सिगरेट के खरीदने व सेवन करने के सूक्ष्म अन्तराल मे कई प्रकार की सूचनाओं का आदान–प्रदान हो जाता है। यहाँ पर प्रायः एक –दो नियमित स्थानीय समाचार पत्र की हेड–लाईन व कभी–कभी पूरा अखबार भी पढ़ लेते है। इसी प्रकार से नाई की दुकान/पारलर्स में अखबार व फिल्मी पत्रिकाएं भी अपनी बारी का इन्तजार करते ग्राहकों के लिए आर्कषण का केन्द्र बन जाती हैं। इस प्रकार से ये परम्परागत व्यवसायिक केन्द्र संचार की प्रक्रिया मे अपनी भूमिका का निर्वाह करते जहाँ आमने–सामने का संचार व जनसंचार माध्यम मिश्रित प्रकार की संचार प्रक्रिया को जन्म देते हैं।

प्रिंट मीडिया–पुस्तकें, समाचार पत्र, पत्रिकाओं, की स्वतन्त्रता पूर्व ग्रामीण क्षेत्रों मे सीमित पहुँच थी। परन्तु इस काल में दो प्रमुख बुक डिपो–देहाती पुस्तक भंडार (दिल्ली) तथा गीता प्रेस (गोरखपुर) प्रमुख रुप से सामने आये जिन्होंने ग्रामीण व सामान्य जन की रुचि के साहित्य के प्रकाशन में बड़ा योगदान किया है। देहाती पुस्तक भंडार (नई सड़क, देहली) की स्थापना 1937 में लाला धोनीमल अग्रवाल ने की। अन्य पुस्तको के साथ–साथ धार्मिक व परम्परागत लोक साहित्य के प्रकाशन अद्भुत कार्य इस प्रकाशन ने किया तथा लोक साहित्य की प्रमुख कथाओं जैसे–सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, आल्हा खण्ड काव्य, किस्सा भगत पूरन मल, नरसी जी का भात, किस्सा गोपी चन्द आदि अनेकों लोक कथाओं के ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचार व प्रसार में सहायता की। आल्हा खण्ड काव्य वीर रस का एक अद्भुत ग्रन्थ है, यह न केवल ग्रामीण क्षेत्रों में गाया व सुना

जाता है अपितु इसका उपयोग भारतीय सेना में वीरता व जोश का संचार करने में भी किया जाता है। (विशेष रुप से युद्ध काल में)। इस प्रकार से ग्रामीण क्षेत्रों में आधुनिक जन संचार के इन साधनों मे से समाचार पत्र, पत्रिकाएं व पाठ्य–पुस्तकों व साहित्य के माध्यम से संचार केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित रहा।

ग्रामीण भारत में साक्षरता की दर कम (1961 मे 24.24%; 1971 में 29.92%) होने के कारण आजादी के बाद के तीन दशकों मे प्रिंट–मीडिया का प्रभाव सीमित ही रहा। विभिन्न प्रसारण माध्यमों मे रेडियो का एक विशिष्ट स्थान है। दूसरे विश्वयुद्ध के समय युद्ध प्रोपेगन्डा में इसकी एक विशेष भूमिका रही थी। भारत में इंडियन स्टेट ब्रॉडकास्टिंग सर्विस (ISBS) का प्रारम्भ 1 अप्रैल 1930 को दो वर्षों के लिए प्रयोगात्मक आधार पर तथा मई 1932 में स्थायी तौर पर प्रारम्भ किया गया। 8 जून 1936 को इसका नाम बदलकर "ऑल इन्डिया रेडियों" कर दिया गया। 1956 में पुनः नेशनल पब्लिक ब्राडकास्टर ऑफ इंडिया के तौर पर उसका नाम बदल कर 'आकाशवाणी' कर दिया गया। वर्ष 1957 मे आल इंडिया रेडियों की वाणिज्यक सेवा 'विविध भारती' का प्रारम्भ हुआ जिसने भारत के ग्रामीण व नगरीय क्षेत्रों में मनोंरजन सामग्री प्रसारित करके श्रोताओं मे अपार लोकप्रियता प्राप्त की। इस प्रकार से 1960 व 1970 के दशकों मे रेडियों एक प्रबल जनसंचार माध्यम के रुप में उभरा। तत्कालीन सरकार ने इसके प्रसार हेतु काफी प्रयास किये। 1960 व 1970 के दशक में भारत को तीन युद्धों का सामना करना पड़ा। उस समय राष्ट्र की जनता को सम्बोधित करने में रेडियों की प्रमुख भूमिका रही। स्वयं जहाँ समाचार पत्र के माध्यम से सूचना प्राप्त करने में साक्षरता की कम दर बाधक थी, वही रेडियो में इस प्रकार की कोई बाधा नहीं थी। अतः रेडियो का प्रसार भारत में तेजी से होने लगा। प्रारम्भ मे रेडियो सैट बिजली से चलने वाली ट्यूब व वाल्व टेक्नॉलोजी पर आधारित थे तथा इनका आकार भी काफी बड़ा था। इस कारण से इसका प्रचलन शुरु में नगरों तक ही सीमित रहा क्योंकि भारत के ग्रामीण क्षेत्रों मे बिजली का नितान्त अभाव था। वर्ष 1957 में जापान में 'ट्रॅांजिस्टर ' पर आधारित सर्किट टेक्नॉलोजी से विकसित रेडियो का न केवल आकार छोटा हो गया अपितु इसकी पावर सप्लाई का स्त्रोत बैट्री सैल थे। इसको भारत में 'ट्रांजिस्टर रेडियो' के नाम से लोकप्रियता प्राप्त हुई। शीघ्र ही ये ग्रामीण भारत में संचार का एक प्रमुख माध्यम बन गया। फिर भी रेडियो लाइसेंस की अनिवार्यता तथा इसकी ऊंची कीमत के कारण गांवो मे इसका प्रसार धीमी गति से हो रहा था। 1970 मे दशक में ग्रामीण क्षेत्रों मे विवाह के समय दहेज में दिये जाने वाले आइटम मे इसका प्रमुख स्थान था। 1980 के दशक में रेडियो के संयोजन की तकनीकी स्थानीय स्तर पर फैल जाने के कारण इसकी कीमत काफी कम हो गयी तथा यह एक महत्वपूर्ण संचार माध्यम के रुप में ग्रामीण क्षेत्रों में फैल गया, यहां तक कि लोग खेतों और खलिहानों मे भी इसका प्रयोग करने लगे।

जनसंचार के अन्य महत्वपूर्ण माध्यम 'टेलीविजन' का प्रारम्भ प्रयोगात्मक आधार पर 1967–73 के मध्य स्टेट सैटेलाइट टेलीविजन एक्सपेरिमेन्ट (SITE) के रुप मे किया गया। इस परियोजना की सफलता मिलने के बाद भारत में सरकार द्वारा टेलीविजन पर कार्यक्रमों का प्रसारण प्रारम्भ किया गया जिसे 'दूरदर्शन' का नाम दिया गया। प्रारम्भिक वर्षों में यह नगरो तक ही सीमित था इसके प्रमुख कारण थे टैलीविजन की ऊंची कीमत, लाइसेंस की आवश्यकता, सीमित प्रसारण

समय, ग्रामीण क्षेत्रों मे बिजली न होना या आपूर्ति न होना। इस कारण से इसका प्रसार भी बहुत ध ीमी गति से हुआ।

वर्ष 1982 में भारत मे नयी दिल्ली में 'एशियन गेम्स' का आयोजन किया गया था। एशियाई खेलों के लाइव प्रसारण को ध्यान मे रखते हुए भारत मे पहल बार रंगीन टी.वी. सैट को लॉन्च किया गया जिससे नगरीय क्षेत्रों में टेलीविजन की बिक्री में वृद्धि हुई तथा ब्लैक एण्ड व्हाइट टी.वी. की कीमतों में गिरावट हुई। इसके साथ ही टी.वी. कार्यक्रमों के प्रसारण को एक दिन मे तीन बार करने का निर्णय भी लिया गया। ग्रामीण इलाकों में अभी भी यह चुने हुए अभिजनों के गश्ह तक ही सीमित था। परन्तु यह अवश्य था कि टी.वी. को देखने इन घरों की बैठक (बाह्य
व्यक्तियों के बैठने का स्थल) अथवा घेर (घर से बाहर एक अन्य घर जहां घरेलू पशुओं के रहने चारा रखने, कृषि उपकरण रखने का पर्याप्त स्थान होता है; यहाँ पर प्रायः पुरुष ही रहते है; बेटियां बुजुर्ग महिलाएं यहाँ आ सकती है; रिश्तेदारों के आने पर उन्हें ठहराने की यहां पर समुचित व्यवस्था रहती है) पर काफी संख्या में ग्रामीण इकट्ठा हो जाते थे विशेष रुप से चित्रहार व फीचर फिल्म के प्रसारण के समय। समाचार प्रसारण के समय राष्ट्रीय व अर्न्तराष्ट्रीय राजनीति पर भी यहां जमकर चर्चा हो जाती थी। (चौहान 1989)।

वर्ष 1984 में दूरदर्शन पर एक धारावाहिक 'हम लोग' का प्रसारण प्रारम्भ हुआ जिसने भारत के नगरीय मध्यवर्ग के टी.वी. की ओर आकर्षित किया। यह भारत में दूरदर्शन का पहला 'सोप ऑपेरा' (सोप आपेरा एक रेडियो या टेलीविजन ड्रामा धारावाहिक जिसमें एक ही समूह की दैनिक गतिविधियों को चित्रण किया जाता है; पश्चिमी देशों में इसको आरम्भिक कार्यक्रम साबुन बनाने वाली कम्पनी द्वारा प्रायोजित करने के कारण इसको सोप ऑपेरा की संज्ञा दी गयी थी) इसे 1980 के दशक में एक मध्यवर्गीय परिवार के संघर्ष तथा महत्वाकांक्षाओं की कहानी को केन्द्र में रखा गया था। इसका निर्माण मैक्सिकन टेलीविजन सीरीज, वैन कॉनमिगो (Ven conmigo) की लाइन पर शिक्षा–मनोरंजन पद्धति का उपयोग करके किया गया था। इसका विचार तत्कालीन सूचना व प्रसारण मंत्री वसन्त साठे को उनकी 1982 की मेक्सिको यात्रा के बाद आया। शीघ्र ही 'हम लोग' धारावाहिक की कथावस्तु पर काम करने की जिम्मेदारी लेखक मनोहर श्याम जोशी को व निर्देशन पी. कुमार वासुदेव को दिया गया। शीर्षक गीत का संगीत अनिल बिस्वास द्वारा रचित किया गया। प्रसिद्ध सिने कलाकार अशोक कुमार ने एंकर की भूमिका में धारावाहिक की कथा पर अपनी रोचक टिप्पणियों से दर्शकों को बड़ा प्रभावति किया। 17 महीने की प्रसारण अवधि में 4,00,000 से भी अधिक पत्र अशोक कुमार को प्राप्त हुए, जो अधिकतर युवाओं द्वारा लिखे गये थे जिनमें उन्होंने उनसे अपने माता–पिता को युवाओं को अपनी पसन्द का जीवन साथी चुनने के लिए समझाने का आग्रह किया था।

इसके बाद एक अन्य धारावाहिक 'बुनियाद' (डायरेक्टर रमेश सिप्पी) ने 1947 के भारत–विभाजन के बाद के संघर्ष की कथा को प्रस्तुत किया। इन दोनों धारावाहिकों ने भारतीय दर्शकों को दूरदर्शन को सफलता पूर्वक स्थापित करने में एक महत्वपूण भूमिका निभायी। वर्ष 1987–88 मे प्रसिद्ध फिल्मकार रामानन्द सागर ने दूरदर्शन पर प्रसारण के लिए 'रामायण' धारावाहिक का निर्माण किया। इसका प्रसारण प्रत्येक रविवार को प्रातः 10 बजे किया जाता था। यह अभी तक का सबसे बड़ा व पहला धारावाहिक था जिसने दर्शकों को आकर्षित करने का एक

ऐतिहासिक रिकार्ड कायम किया। यह महाकवि तुलसीदास के रामचरितमानस तथा बाल्मिकी रामायण पर आधारित था। रामायण के प्रति भारतीय जनमानस की आस्था के फलस्वरुप इसने दर्शकों को अपने पाश में बांध लिया। इस धारावाहिक को देखने के लिए घरों व दुकानों पर लोगों की भीड़ लग जाया करती थी। रविवार का दिन होने के कारण कोई भी इस धारावाहिक को छोड़ना नहीं चाहता था। इसलिए ग्रामीण व नगरीय क्षेत्रों में बड़ी संख्या में टी० वी० सैट खरीदे गये; अपितु कई लोगों ने अपनी दिनचर्या में भी परिवर्तन कर लिया था। इस धारावाहिक के समय लोगों ने उदारतापूर्वक अपने ड्रॅाइग रुम के दरवाजे सभी के लिए खोल दिये थे। यहां तक कि शहरों में ट्रैफिक के आवागमन में भी कमी आ गयी थी। इस धारावाहिक ने दूरदर्शन को नगरीय व ग्रामीण आंचलों में लोकप्रिय बनाने में एक बड़ी भूमिका का निर्वाह किया तथा ग्रामीण क्षेत्रों में टी० वी० सैट अब विवाह के समय दिये जाने वाले दहेज का एक प्रमुख आइटम माना जाने लगा (इससे पूर्व रेडियो को यह स्थान प्राप्त था)। 'रामायण' धारावाहिक की अपार सफलता के पश्चात एक अन्य महत्वपूर्ण धारावाहिक 'महाभारत' के 94 एपिसोड 2 अक्टूबर 1988 से 24 जून 1990 को दूरदर्शन के नेशनल चैनल पर प्रारम्भ किया गया। इसके प्रोड्यूसर व निर्देशक क्रमशः बी० आर० चौपड़ा तथा रवि चौपड़ा थे। यह वेद व्यास द्वारा लिखित मूल महाभारत पर आधारित धारावाहिक था। इसका संगीत राजकमल ने तथा इसकी पटकथा राही मासूम रजा ने लिखी थी। प्रत्येक एपिसोड 45 मिनट का था। इसका शीर्षक गीत श्रीमद् भगवत गीता के दो श्लोक थे जिनको प्रसिद्ध गायक महेन्द्र कपूर ने अपनी आवाज दी थी। 'समय' को एक व्यक्ति के रुप में दर्शाते हुए धारावाहिक के प्रारम्भ में घटना–क्रम की व्याख्या हेतु हरीश भिमानी की प्रभावशाली आवाज का प्रयोग किया गया था। 'रामायण' धारावाहिक की भांति 'महाभारत' को भी अपार सफलता प्राप्त हुई जिसने दूरदर्शन को भारत के कोने–कोने तक पहुँचाने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। तब से लेकर आज तक टी० वी० का प्रसार तीव्र गति से ग्रामीण क्षेत्रों में जारी है। तथा लगभग 90% ग्रामीण जनता तक इसकी पहुँच है। 1980 के दशक में केबिल टी० वी० को आमोद–प्रमोद के एक विकल्प के रुप में स्थापित करने के प्रयास किये गये क्योंकि उस समय टी० वी० पर एक सीमित समय तक ही प्रसारण किया जाता था। परन्तु इनमे कोई महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हो सकी तथा यह मुम्बई जैसे महानगरों तक ही सीमित रहा। 1990 के दशक के प्रारम्भ में केबिल टी० वी० ने दूरदर्शन को चुनौती प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया तथा सभी छोटे–बड़े शहरों में इसकी लोकप्रियता में काफी वृद्धि हो गयी। वर्ष 1990 मे ईराक व कुवैत के मध्य युद्ध प्रारम्भ हो गया जिसे खाड़ी युद्ध के नाम से जाना जाता है। इसका कवरेज सैटेलाइट के माध्यम से CNN चैनल द्वारा एशिया तथा पश्चिमी यूरोप के देशों में टी० वी० पर प्रसारित किया गया। भारत में दूरदर्शन पर इसका प्रसारण नहीं किया गया था। CNN का प्रसारण सैटेलाइट के माध्यम से स्थानीय केबिल नेटवर्क पर किया गया जो काफी लोकप्रिय हुआ विशेष रुप से नगरों में। 1992 में हांगकांग केन्द्रित कम्पनी समूह स्टार टैलीविजन (Satellite Television Asian Region) ने केबिल टी० वी० नेटवर्क के माध्यम से 5 चैनलों का प्रसारण प्रारम्भ किया–स्टार प्लस, बी० बी० सी०, एम० टी० वी०, प्राइम स्पोर्टस व जी० टी० वी०। इनमें से पहले चार अंग्रेजी के तथा पांचवां हिन्दी चैनल था। इन सभी चैनलों पर 24 घंटे कार्यक्रम प्रसारित होते थे जो भारतीय दर्शकों के लिए एक नया अनुभव था। स्टार टी० वी० नेटवर्क के आगमन ने केबिल टी० वी० के लिए एक सुनहरा अवसर प्रदान किया। भारतीय मध्यम वर्ग का दर्शक जो दूरदर्शन के क्रार्यक्रमों से ऊब चुका था वह इन नये चैनलों की चकाचौंध

ा से आकर्षित हो गया। देखते ही देखते नगर के प्रायः सभी घरों व दुकानों में बिजली व टेलीफोन के खम्भे व मकानों की छतों पर केबिल नेटवर्क का जाल बिछ गया। डिश आपरेटरों ने स्थानीय स्तर पर फिल्म और चित्रहार टाइप के अपने कार्यक्रम भी एक अलग चैनल के माध्यम से देने प्रारम्भ कर दिये। पाकिस्तानी नाटक, CNN, ATN, PTV जैसे चैनल भी केबिल TV पर दिखाये जाने लगे। इस प्रकार से भारतीय दर्शकों को दूरदर्शन का एक विकल्प उपलब्ध हो गया। परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में अभी भी दूरदर्शन की प्रमुख रुप से हावी था। (सिंह 1995, 2002)। केबिल टी० वी० का मासिक किराया 150–200 रु० था। इसलिए इसका प्रभाव नगरीय उच्च व मध्य वर्ग तक ही सीमित होकर रह गया।

वर्ष 2003 में नयी संचार तकनीकी का प्रादुर्भाव हुआ जिसने केबिल टी० वी० को चुनौती प्रस्तुत की। यह थी–'डायरेक्ट टू होम' (DTH) सर्विस का प्रारम्भ होना। इस समय तक केबिल टी० वी० पर चैनल की संख्या बढ़कर लगभग 100 के करीब हो गयी थी। डी० टी० एच० एक क्रान्तिकारी तकनीकी थी जिसमें एक छोटी डिश के द्वारा सैटेलाइट से सीधे सिगनल प्राप्त करके 'सैट टाप बाक्स' के माध्यम से अनेकों चैनलों को टी० वी० पर रिमोट कन्ट्रोल की सहायता से देखा जा सकता है। भारत में सबसे पहली डी० टी० एच० सेवा डिश टी० वी० द्वारा प्रारम्भ की गयी जो कि जी० टी० वी० (Zee TV) की एक कम्पनी थी। इसके पश्चात टाटा स्काई (Tata sky) कम्पनी ने 2006 व अन्य कई कम्पनियों द्वारा यह सेवा प्रदान करने को सिलसिला प्रारम्भ हुआ। इसकी सफलता ने दूरदर्शन को भी यह तकनीकी अपनाने पर मज़बूर किया। जिसके फलस्वरुप आज प्रायः सभी टी० वी० सैट टाप बाक्स के माध्यम से ही कार्यक्रम रिसीव करते हैं। कई स्थानीय कम्पनियों ने मुफ्त में टेलीकास्ट किये जाने वाले कार्यक्रमों को देखने के लिए डिश व सैट टॉप बाक्स बाज़ार में उपलब्ध करा दिये है। इनका प्रयोग करने पर कोई मासिक शुल्क नहीं लगता। इस प्रकार से गरीब व निम्न मध्यम वर्ग के लिए यह सुविधा काफी उपयोगी है। यही कारण है कि ग्रामीण क्षेत्रों में भी पिछले एक दशक में टी० वी० का प्रसार तेजी से बढ़कर लगभग शत–प्रतिशत हो गया है जो कि संचार व्यवस्था की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

भारत में टेलीकाम उद्योग सरकारी प्रतिष्ठान बी० एस० एन० एल० (भारत संचार निगम लिमिटेड) की छत्रछाया में बहुत धीमी गति व मनमाने ढंग से संचालित किया जाता रहा था। स्वतन्त्रता–प्राप्ति के बाद के चार दशकों में टेलीफोन एक 'स्टेटस सिम्बल' माना जाता रहा तथा इसका स्वामित्व व उपयोग सरकारी/प्राइवेट प्रतिष्ठानों व अधिकारी व उच्च वर्ग के द्वारा अधिक किया जाता रहा। पोस्ट आफिस व टेलीग्राफ ऑफिस में ट्रंक काल की सुविधा सामान्य जन के लिए उपलब्ध थी परन्तु मंहगी थी। 1980 के दशक में इनसैट–बी उपग्रह के लांच होने के बाद से एस० टी० डी० (Straight Trunk Dial) सेवा प्रारम्भ हुई जिसने टेलीकॉम संचार के क्षेत्र में क्रान्ति लाने का कार्य किया। सरकार द्वारा एस० टी० डी० पी० सी० ओ० बूथ (STD-PCO Booth) के कनेक्शन दिये जाने के फलस्वरुप सामान्य जन को यह सुविधा उपलब्ध होने लगी तथा घरों में दिये जाने वाले फोन कनैक्शन पर भी यह सुविधा उपलब्ध थी। फलस्वरुप दूर संचार सेवा का नगरीय मध्यम वर्ग में तेजी से प्रसार हुआ। एस० टी० डी०–पी० सी० ओ० बूथ गली–गली में खुलने के कारण निम्न आय वर्ग द्वारा भी इसका प्रयोग सभी छोटे–बड़े नगरों में होने लगा। परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में इसका प्रचलन अभी भी बहुत कम था।

1990 के दशक में टैलीकाम उद्योग में तीव्र गति बाजारी–उदारवाद (market liberalism) का प्रादुर्भाव तथा वृद्धि हुई तथा आज यह दुनिया का सबसे तीव्र गति से विकास की ओर अग्रसर, प्रतियोगी बाजार बन गया है। 1997 मे सरकार ने ट्राई (TRAI-Telecom Regulatory Authority of India) को गठित किया जिसने टेलीफोन काल की दर व नीतियों के निर्धारण में सरकार के हस्तक्षेप को कम किया। वर्ष 2000 तक सरकार इस क्षेत्र में और अधिक उदार हो गयी तथा इसने सेलुलर कम्पनियों को उदारतापूर्वक लाइसेंस प्रदान करना प्रारम्भ किया। जिससे कि कॉल दर में काफी कमी आयी। पिछले एक दशक में इसका विस्तार अत्याधिक तीव्र गति से दिखायी पड़ता है जिसके फलस्वरुप आज सेलुलर (मोबाइल) फोन नगरीय व ग्रामीण क्षेत्रों मे लगभग शत–प्रतिशत लोगों तक पहुँच चुका है। तथा संचार–क्रान्ति लाने मे इस का एक बड़ा योगदान है।

उपरोक्त विवेचन से हम भारतीय समाज में ग्रामीण संचार व्यवस्था की प्रकृति का विश्लेषण कर सकते है। पाई (Pye:1963) के अनुसार संक्रमणशील संचार व्यवस्था में ग्रामीण तथा नगरीय संचार प्रक्रियाओं के एकीकरण का अभाव पाया जाता है। भारत मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रथम चार दशकों में परम्परागत व आधुनिक संचार व्यवस्थाएं विखण्डित तथा पृथक थीं इनके मध्य एकीकरण का अभाव था। परन्तु पिछले दो दशकों में टी० वी०, कुछ मोबाइल फोन व इन्टरनेट के तेजी से प्रसार के कारण आज लगभग सारी जनसंख्या संचार व्यवस्था से भली भाँति जुड़ गयी है। टेलीविजन और मोबाइल फोन आज सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या को कवर कर रहे हैं। इस प्रकार से सूचना का प्रवाह ग्रामीण स्तर तक सूचना भेजने व संचार अन्तक्रिया करने की सुविधा व्हाटऐपस व फेसबुक, ट्वीटर जैसी सोशल नेटवर्किंग साइट्स के द्वारा प्रदान की जाने लगी है। इस प्रकार से आज की ग्रामीण संचार व्यवस्था, उच्च आधुनिक संचार व्यवस्था अथवा वैश्विक संचार व्यवस्था से तेजी के साथ एकीकृत हो रही है। अतः अवधारणात्मक स्तर पर चौथे प्रकार की संचार व्यवस्था भी अस्तित्व में आ रही है जिसे हम उच्च–आधुनिक अथवा वैश्विक संचार व्यवस्था कह सकते है जो स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय संचार व्यवस्थाओं को परस्पर एकीकृत कर रहीं है तथा विभिन्न संचार माध्यम भी अब एकीकृत होकर मल्टी–मीडिया के रुप में उभर रहे हैं।

References

Beck, Ulrich. 1997: *Was ist Globalisierung?* Frankfurt: Suhrkamp.

Chauhan, Brij Raj 1989: Rural-Urban Articulation, Udaipur: A. C. Brothers.

Giddens, Anthony 1999: Globalisation, *Director's Lecture: 10th November, 1999, http://www.lse.ac.uk/Giddens/reith_99/Default.htm.*

Held, David, Anthony McGrew, David Goldblatt, and J. Perraton. 1999: *Global Transformations: Politics, Economics and Culture*. Cambridge: Polity.

Hopkins, Terence K., and Immanuel Wallerstein (Eds.). 1996: *The Age of Transition: Trajectory of the World-System, 1945-2025*. London and New York.

Hirst, Paul, and Grahame Thompson. 1996. *Globalization in Question*. Cambridge: Polity.

Martin, Hans-Peter, and Harald Schumann. 1997: *The Global Trap: Globalization and the Assault on Prosperity and Democracy*. London and New York, and Sydney: Zed Books and Pluto Press Australia.

Ohmae, Kenichi. 1991: *The Borderless World*. New York: Harper Collins.

Ohmae, Kenichi. 1995: *The End of the Nation-State: The Rise of Regional Economies*. New York: Harper Collins.

Pye, Lucian W. 1963: Communication and Political Development, Princeton: Prenceton Univ. Press.

Reich, Robert B. 1991: *The Work of Nations*. London: Simon and Schuster.

Schnapper, Dominique. 1994: *La Communauté des Citoyens*. Paris: Gallimard.

Singh, V. P. 1995: "Satellite Television and Middle Class Youth in Bhopal City", *Emerging Trends in Development Research*, Vol. 2, No. 1&2, Jan.-July, 1995, pp. 7–20.

Singh, V. P. 2002: "Mass Media Communication, Modernity and Social Structure" *Emerging Trends in Development Research*, Volume 9, N0. 1&2, January-July, 2002, pp. 3-28.

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna2016
वर्ष 2, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2016, पृ. 17–29

सामाजिक संरचना, साहित्य और नारीवादी दृष्टिकोण

प्रीति तिवारी*

सामाजिक संरचना के अध्ययनों एवं अवलोकनों के आधार पर हम यह देखते आये हैं, स्त्रियाँ चाहे सबल रही हों या निर्बल, दोनों ही परिस्थितियों में वे किसी न किसी प्रकार से पितृसत्तात्मक समाज और पुरूष वचर्स्व से अलग नहीं रह पायी। पितृसत्तात्मक समाज ने हर प्रकार से स्त्री पर अपना अधिकार पाने में सफलता प्राप्त की है और आज भी वह किसी न किसी क्रम में उन्हें अधीन बनाने के प्रकरण में सफल देखा जाता रहा है। इस बात से हम बिल्कुल भी इंकार नहीं कर सकते हैं कि समाज में वे स्त्रियाँ बिल्कुल भी नहीं रही हैं जिन्होंने अपना स्वर नारी उत्पीड़न, शोषण और अधिकार के खिलाफ न उठाया हो। यदि ऐसा न होता तो शायद आज हम स्त्री अध्ययन या नारीवादी धारा को जन्म ही न दे पाते। यह कार्य यदि हम कहें कि केवल स्त्री के प्रयास से हुआ है तो बात बिल्कुल असहज सी लगती है, बल्कि उनकी आवाज को बाहर लाने और समाज के हर स्तर पर पहुंचाने में नारीवादी दृष्टिकोण रखने वाले पुरूषों का भी सहयोग रहा है। हम आज अपने नारीवादी आन्दोलनों, मांगों के माध्यम से स्त्री को एक ऐसी स्थिति तक ला पायें है कि उन्हें निर्बल से सबल बनाया जा सके और उन्हें उनका उचित अधिकार प्राप्त हो सके। तमाम प्रयासों एवं आन्दोलनों के बाद भी स्त्री की स्थिति आज के संदर्भ में पूरी तरह सुधर नहीं सकी है, बल्कि आज भी एक बहुत बड़ा हिस्सा इन नारीवादी सुधारों एवं आंदोलनों से अछूता रहा है और पितृसत्ता की जंजीरों में जकड़ा हुआ है। आज भी स्त्रियाँ शोषण की स्थिति में जी रही हैं। निर्बल और सबल स्त्री का सवाल केवल आज के ही संदर्भ में ही समझना उचित नहीं होगा, बल्कि इसमें आमूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता है साथ ही इतिहास के पन्नों को हमे फिर से व्याख्यापित करने की भी आवश्यकता है। इनमें हमारे तमाम धार्मिक सांस्कृतिक ग्रंथ और समाज का आइना प्रस्तुत करने वाले साहित्य की एक बड़ी श्रंखला मौजूद है। इसी परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत शोध पत्र आर.के. नारायण के चयनित उपन्यासों में सबल और निर्बल स्त्रियों को ढूंढ़ने का प्रयास करता है।

साहित्य चूंकि अन्य लेखों एवं ग्रन्थों की तरह अतीत को समझाने में मदद करता है, इसलिए इनकी उपयोगिता हो नकारा नहीं जा सकता है। जैसा कि हम जानते हैं कि साहित्य समाज का आइना कहा जाता है, इस लिहाज से यह बात अनिवार्य हो जाती है कि हम इन साहित्यों को एक नये सिरे

---

*शोध छात्रा, सेन्टर फॉर डवलेपमेन्ट स्टडीज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद– 211 002 उ.प्र.।

से समझे और नारीवादी दृष्टिकोण से नारी प्रश्नों को आज के संदर्भ में उदाहरण के तौर पर पेश कर सके।

आर.के. नारायण अपनी इच्छाशक्ति और अनुभवों के आधार पर समाज के सूक्ष्म बिन्दुओं को बहुत ही सुंदर ढंग से प्रस्तुत करने में सफल पाये गये हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में स्त्री के हर पक्ष को बखूबी चित्रित किया है, तथा एक स्त्री का जीवन किन किन पक्षों से प्रभावित होता है, को भी प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। नारायण के बारे में यह भी माना जाता है कि उनके किरदार उनके निजी अनुभवों और सामाजिक स्थिति को दर्शाने में हमेशा ही कामयाब रहे हैं।

जैसा कि कुमकुम सांगरी और सुदेश वैद्य एंग्लो भारतीय साहित्य के बारे में बताते हैं कि ऐंग्लो भारतीय साहित्य वास्तव में एक प्रकार के साहित्य की उपसंस्कृति है जिसका अस्तित्व भारत में ब्रिटिश लोगों की उपस्थिति में आया, और इस प्रकार के साहित्य मुख्य साहित्य सिद्धान्त रूप में सम्मिलित भारतीय–ब्रिटिश के कार्य का मिलन है। इस तरह से वह यह भी मानते है कि हमारी संस्कृति का विकास हुआ और लगातार विकास कर रहा है और यूरोपियन सम्राज्यवाद एवं औपनिवेशवाद के नुकसान पहुँचाने वाले पक्षों के विरूद्ध खड़ा हुआ।

आज हम जो भी भारतीय अंग्रेजी साहित्य को देख पा रहे हैं, वह बंगाली भद्रलोगों या सम्मिलित लोगों के प्रयास एवं दबाव के फलस्वरूप सामने आये। सशक्त और कमजोर स्त्री के पक्ष को जानने के लिए जैसा कि थारू अपने लेख Tracing Savitri's Pedegree में बताती है कि यह आवश्यक और अनिवार्य हो जाता है कि हम अंग्रेजी–भारतीय साहित्य की धड़कन को समझने के लिए उस ज्ञान को इस्तेमाल करें जो कि उन पक्षों को सामने ला सकें और हम समाज और साहित्य की वास्तविकता को समझ सकें। सशक्त नारी के परिप्रेक्ष्य में यदि देखें तो यह कहा जा सकता है कि यहां उन नारियों का चित्रण समझा जाये जो कि खुद को पितृसत्तात्मक संरचना के विरोधा में खड़ी हैं और उसका सामना अपनी तार्किक शक्ति से डटकर करती हैं निर्बल स्त्रियों के संदर्भ में जब हम बात करते हैं तो उन स्त्रियों का रूप उभरकर सामने आता है जो पितृसत्तात्मक संरचना के अन्तर्गत जीवन के हर पक्ष में अधीन स्थिति में पायी जाती हैं और इसके विरोध में खड़े होने का साहस नहीं कर पाती है। इस आधार पर सामाजिक संरचना को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, सशक्त में उन स्त्रियों की भूमिका को समझना आवश्यक जो कि पितृसत्ता द्वारा निर्मित एवं निर्धारित संस्थाओं, प्रतिबन्धों, कर्मकाण्डों के विरूद्ध अपनी आवाज देने में सक्षम हो पाती है। यह बात भी उतनी ही सही है कि समाज में हमेशा उन स्त्रियों का अस्तित्व देखा गया है जो कि इन संस्थाओं के बंधन से अपने आप को अलग कर सकी और इनके विरूद्ध खड़ी होकर न्याय और समानता की मांग के लिए अपने स्वर बुंलद कर सकी। दूसरी तरफ यह बात भी उतनी ही सही है कि वे स्त्रियां भी हमेशा से समाज का अभिन्न अंग रही है जिन्होंने पितृसत्तात्मक संरचना के समाने अपने आपको समर्पित कर दिया और चाहे, अनचाहे तरीकों से पितृसत्तात्मक संरचना का भाग बन गयी। यहां पर आर.के. नारायण अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करने में सक्षम रहे है। परन्तु इन उपन्यासों में ज्यादातर पितृसत्तात्मक संरचना में रहने वाली स्त्रियों का चित्रण किया गया है जो कि पितृसत्तात्मक संरचना के विरूद्ध आ जाने में अक्षम पायी जाती है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है पिछले दो सौ सालों

में हमारी संस्कृति का विकास नहीं हुआ है, बल्कि लगातार विकास हो ही रहा है। जो कि यूरोपीय साम्राज्यवाद और औपनिवेशवाद के उन पक्षों को हटाने में अक्षम रहा जिनसे कि हमारे समाज एवं साहित्य पर दुष्प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश शासकों के आर्थिक संरचना और राजनीतिक संरचना ने निश्चित रूप से हमारी परम्परागत संस्थाओं और मूल्यों को जो कि हमारे दैनिक कार्य–कलापों से संबंधित है को विचलित किया जो कि सामाजिक दशष्टि से हमारी एकता के लिए उपयुक्त थे। विक्टोरियन मिथकों में भी स्त्री की लैंगिक पवित्रता पर बल दिया जाता रहा है।

विक्टोरियन लेखक भी अधिक बल यौनिक प्रतिबन्धों पर, नैतिकता के उत्थान को अधिक महत्व देते हैं तथा यह भी मानते हैं कि स्त्रियों की यौनिक उत्तेजना को सही तरीकों से न नियंत्रित किया गया तो यह समाज के लिए खतरनाक हो सकता है। एक स्त्री जो कि एक पुरूष की उत्तेजना के विरूद्ध खड़ी होती है, तो उसे प्राकृतिक रूप में पवित्र माना जाता है। एक स्त्री की पवित्रता ईश्वर की पवित्रता है यह एक दैवीय प्रकाश को फैलाने वाली मानी जाती है। (Sangiri and Vaid, 1989)।

यदि उपरोक्त संदर्भ में आर.के. नारायण के उपन्यास 'अंधेरा कमरा' और 'द गाइड' के संदर्भ में रखकर विश्लेषण किया जाये तो यह स्पष्ट होता है, कि किस तरह से सावित्री जो कि अंधेरा कमरा की मुख्य स्त्री किरदार है हमेशा पवित्रता को लेकर चलती है, और अपने पति द्वारा धर्म पत्नी का स्थान प्राप्त करती है। ठीक इसी प्रकार से स्त्री का यही चित्रण द गाइड में राजू की मां के द्वारा भी प्रस्तुत होता है और वह कहती है कि पत्नी धर्म पति की सेवा और उसके अनुसार चलने में ही है। ठीक इसी प्रकार का चित्रण कला स्नातक उपन्यास में मुख्य किरदार चंद्रन की मां द्वारा भी देखने को मिलता है जो कि मानती है कि पति पत्नी की जोड़ियां ईश्वर द्वारा बनायी जाती है और वही तय करता है कि कौन किसकी पत्नी और किसका पति होगा।

आर.के. नारायण के उपन्यास अंधेरा कमरा के बारे में कहा जाय तो सावित्री का चित्रण चरित्रवान, पवित्र, शक्तिहीन, निःस्वार्थ प्रेम, कष्टों को सहने वाली और हमेशा धर्म पत्नी के आदर्शों का पालन करने वाली और आपने पति की हमेशा उन्नति सोचने वाली दिखाई गइ है।

आर्थिक आधार पर स्त्री की स्थिति

निर्णय की स्थिति का यदि अवलोकन किया जाये तो इसका मुख्य आधार आर्थिम माना जा सकता है। यहां पर स्त्री के आर्थिक रूप से स्वंतत्र न होना उसे सबल और निर्बल की स्थिति में ला खड़ा कर देता है। एक स्त्री के सबल और निर्बल अवस्था सामाजिक और आर्थिक कारणों पर निर्भर करती है, जिसमें कि धार्मिक व्यवसाय और सांस्कशतिक पक्षों का भी सहयोग देखा जाता है और ऐसी स्थिति में स्पष्ट लिंग अवस्था की कल्पना कर पाना बहुत कठिन हो जाता है (Jain and Mahan 1996 : 115)।

जैसा कि नेहरू खुद भी स्त्री के विभिन्न पक्षों की बात करने के साथ–साथ स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भतर पर भी बल देते हैं, और मानते हैं यह आर्थिक आत्म निर्भरता स्त्री को सबल बनाने में निश्चित ही सक्षम होगी। जैसा कि 1936 में नेहरू अपने एक सम्बोधन में कहते हैं कि स्त्री की स्वतंत्रता राजनीतिक स्थिति से ज्यादा आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है, और यदि एक स्त्री आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं है और खुद से कमाने वाली नहीं है तो उसे अपने पति या अन्य व्यक्ति पर निर्भर होना ही पड़ेगा और निर्भरता कभी स्वतंत्रता प्रदान नहीं करती है। नेहरू का आर्थिक पक्ष पर बल स्त्री

मुक्ति और स्वतंत्रता के सारे प्रश्नों का उत्तर प्रदान करती है। और यदि वे आर्थिक रूप से निर्भरहै तो उनका विकास होना तय है और वे अपनी समस्याओं को निवारण करने में सक्षम होगी।

आर.के. नारायण के उपन्यास 'द डाक रूम' के प्रारम्भ में एक जगह सावित्री, रमणी से जो कि उनका पति है से कहती है कि मेरे पास पैसे खत्म हो गए है। शाम के लिए सब्जी खरीदनी है। इस पर रमणी सावित्री को एक रूपया देकर कहता है कि एक रूपये से काम चलेगा? और वे रूपया देकर चल देते हैं।

यहाँ पर सावित्री बगैर कुछ कहे हुए रमणी को अपने गैरेज से कार निकालते हुए निहारती नजर आती है जो कि निश्चित ही उनकी निर्बलता को बयान करती है क्योंकि वह एक बार भी यह नहीं कह पाती है कि एक रूपया शाम की सब्जी के लिए पर्याप्त है या नहीं। यह सावित्री के दब्बू होने का भी प्रतीक है वहीं दूसरी ओर सावित्री की सहेली गंगू अपने पति को पूरी तरह से अपने नियंत्रण में रखती है। यहां पर सावित्री की निर्बलता इस आधार पर है कि वह हमेशा अपने पति रमणी द्वारा ही नियंत्रित की जाती है, जबकि गंगू अपने पति पर नियंत्रण रखने में सक्षम रहती है।

सावित्री चूँकि आर्थिक रूप से पूरी तरह अपने पति रमणी पर आश्रित थी जिसके कारण उसे किसी बात के निर्णय का कोई अधिकार न था और प्रायः हार कर वह अपने घर में भंडार के पास वाले अंधेरे कमरे में चली जाती थी, जो कि उसकी निर्बलता का सबसे बड़ा उदाहरण माना जा सकता है।

उपन्यास में जब नौकरों के संदर्भ में बात आती है तो बात स्पष्ट हो जाती है कि न तो वे आर्थिक या न ही शैक्षणिक आधार पर सबल है। रंगा जो कि सावित्री के यहां लकड़ी चीरने का काम करता था, बताता है कि उसने किसी कारणवश अपने पुत्र की एक बार पिटाई कर दी तो उस पर उसकी पत्नी पेन अपने हाथ में लिए हुए पीतल के बरतन से उसकी पिटाई कर देती है। इस पर वह कहता है कि तब से मैं बच्चों के मामले में दखल नहीं देता हूँ। चाहे वे कुएं में गिर जायें। औरत का मामला बड़ा बेढ़ब होता है। जब कि वहीं पर दूसरी तरफ सावित्री का रसोइंया बताता है कि वह अपनी पत्नी के किसी भी दखलदांजी पर उसकी हड्डी–पसली एक कर देता है। यहां पर दोनों की स्थिति में एक की पत्नी सबल और दूसरे की पत्नी निर्बल पायी जाती है। ''सावित्री अपनी निर्बल स्थिति का बयान करते हुए कहती है कि असल में हमारी इस हालात के लिए हम खुद जिम्मेदार है। हम स्त्रियां आप पुरूषों का दिया हुआ भोजन, आश्रय और दूसरी सुविधाएं स्वीकार करती है और इसी से हमारी यह हालत है।

यदि अब नारायण के उपन्यास 'द गाईड' की स्त्री स्थिति का सबलता एवं निर्बलता का अवलोकन करें तो पता चलता है रोजी जो कि उपन्यास की मुख्य किरदार है अपनी नृत्य कला के माध्यम से एक आर्थिक रूप से मजबूत स्त्री बन जाती है। उसका आर्थिक रूप उसे सबलता का अनुभव प्रदान करता है परन्तु वह इस स्थिति में आत्म संतुष्टि प्राप्त करने में सक्षम नहीं महसूस करती है जिसका कारण उसका उसके पति के प्रति गहरा लगाव माना जा सकता है। एक तरफ उसका अपनी इच्छा पूर्ति के लिए अपने पति से अलग होना है और दूसरी तरफ एक धनवान स्त्री की स्थिति को प्राप्त कर लेना उसे सबल तो बना देता है लेकिन उसका मार्को के प्रति लगाव और पत्नी धर्म की इच्छा निर्बल भी बनाती है। इस प्रकार से वह सबलता और निर्बलता दोनों ही प्रकार की स्त्री का चित्रण विरोधाभासी रूप से प्रस्तुत करती है।

दूसरी निर्बल स्त्री का चित्रण राजू की मां का है जो परम्परागत जीवन यापन में विश्वास रखती है। वह राजू के द्वारा कमायें हुए धन से ही अपना जीवन निर्वाह करती है। उसका आत्म निर्भर न होने की वजह से वह निर्बल स्त्री का चित्रण भी प्रस्तुत करती हैं। ?

स्त्री की शिक्षा के आधार पर स्थिति

स्त्री के सबल और निर्बल होने की स्थिति में उसकी शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। समाज सुधार की परम्परा में नेहरू शिक्षा को एक महत्वपूर्ण आधार मानते हैं, जिसके द्वारा सामाजिक परिवर्तन सम्भव हो सकता है। स्त्री की शिक्षा के महत्व पर वह विशेष बल देते हैं। अपने एक वक्तव्य में बताते हैं कि एक बार तो पुरूष की शिक्षा को नजर अंदाज किया जा सकता है लेकिन यह सम्भव नहीं है कि स्त्री की शिक्षा को नजरअंदाज किया जाये। वे यह भी बताते हैं कि शिक्षा स्त्री को मां, पत्नी, बहन की भूमिका व अपने कार्यों को पूरा करने में अधिक समर्थ बनायेगी और उन्हें आर्थिक प्रतियोगी भी बनायेगी। वे स्त्री की शिक्षा को बाधित करने की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार एक स्त्री को अच्छी शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए, और उन्हें हर व्यवसाय और क्षेत्र में शिक्षण दिया जाना चाहिए जो कि उनको परम्परागत व्यवसाओं और आदर्शों से बाहर अन्य क्षेत्रों तक ले जाने में सक्षम होगा। इस प्रकार से वे स्त्री को उसके लिंग पर आधारित कार्यों से बाहर लाना चाहते थे, और परम्परागत स्त्री भूमिकाओं को तोड़ने में विश्वास करते थे (Jain & Mahan 1996 : 228)।

नारायण के उपन्यास 'द डार्क रूम' में गंगू जो कि सावित्री की सहेली है, उसका सपना फिल्म नायिका बनने का था। वह व्यावसायिक संगीतकार भी बनना चाहती थी। इस सब के लिए वह अंग्रेजी को अधिक महत्व देती थी और कहती थी कि केवल अंग्रेजी की पत्रिकाएँ पढ़ लेने या वैवाहिक जीवन के प्रारम्भ में अंग्रेजी पत्र लिख देने जितनी ही जानकारी काफी नहीं है। अंग्रेजी सीखने के लिए वह ट्यूटर भी नियुक्त कर रखी थी। और हर सप्ताह दो फिल्में भी देखती थी, उन्हें ऊंटपटांग बाते करने की आजादी थी और जब चाहे घर से निकल पड़ती थी। जहां इच्छा हो जाती थी और जोर–जोर से बातें करती थी। ये सारी विशेषताएं निश्चित ही तौर पर गंगू को सबल स्त्री की स्थिति में लाने से कोई इंकार नहीं कर सकता है। जबकि दूसरी तरफ सावित्री को जब उनके पति घर पर हो तो उन्हें घर से बाहर जाने की आजादी बिल्कुल नहीं थी। फिल्म तो हमेशा अपने पति के साथ ही देखने का अवसर प्राप्त होता था। यह सब गंगू को सबल स्त्री के रूप में दर्शाता जो कि पितृसत्तात्मक बंधंनो से काफी हद तक विरूद्ध कार्य कर सकती थीं लेकिन सावित्री बिल्कुल नहीं। सावित्री की दूसरी सहेली जानम्मा की स्थिति सावित्री की तरह पायी गयी है। 'द डार्क रूम' में शांताबाई का चित्रण एक शिक्षित स्त्री का है जो कि अपने बारे में काफी स्पष्टवादी है और सामाजिक संस्थाओं के विरूद्ध खड़ी होने वाली देखी गयी। अपने पति को उसने, उसके जुआरी, शराबी और व्यसन में लिप्त होने की वजह से त्याग दिया था।

दूसरी तरफ उसने अपने माता–पिता को भी त्याग दिया क्योंकि वे इसके कार्य से खुश नहीं थे वह इन परिस्थितियों के बावजूद भी अपनी पढ़ाई की और खुद के दम पर बी.ए. किया, उसके इस प्रकार के कार्यों से यह बात साफ होती है कि वह पितृसत्तात्मक समाज की चुनौती देती है और स्वनिर्भर होकर अपना स्वतंत्र जीवन व्यतीत करती है।

दूसरी तरफ वह अपनी निर्बलता इस बात से जाहिर करती है कि कौन कहता है कि स्त्रियों के शिक्षा प्राप्त कर लेने से उनका उद्धार हो जाता है, यह निरी बकवास है। ऐसा कुछ नहीं होता। उनके लिए भी नौकरी की समस्या वैसी ही है जैसे पुरूषों के लिए।

शांताबाई एक तरफ से पितृसत्तात्मक संस्थाओं का त्याग कर सबल स्त्री का चित्रण प्रस्तुत करती है, लेकिन दूसरी तरफ शिक्षा प्राप्ति के बाद भी नौकरी न मिल पाने में निर्बल दिखाई पड़ती है। अंत में शांताबाई रमणी के दफ्तर में नियुक्त होकर आर्थिक निर्भरता प्राप्त कर लेती है जो कि उसे अपने आप में सबल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। शांताबाई अपने इच्छानुसार क्लब एवं सिनेमा देखने को स्वतंत्रत थी तथा कहीं भी घूम फिर सकती थी जो कि उसकी सबलता का परिचायक है क्योंकि ये बाते सामान्य स्त्री के द्वारा कर पाना असम्भव था। जैसा कि हम सावित्री की असहाय स्थिति से पता चलता है कि वह पितृसत्तात्मक समाज के उत्पीड़नों को सहन करती है और हमेशा अबला की ही स्थिति में ही रह जाती है।

सावित्री जब अपने पति का घर उसके ही दफ्तर में काम करने वाली के साथ प्रेम प्रसंग से क्रुद्ध होकर छोड़कर चली जाती है तो कहती है कि "अपने बल पर मैं कर ही क्या सकती हूँ। अगर मैने ठीक–ठीक शिक्षा पायी होती तो अभी टीचर की या ऐसी ही कोई नौकरी पा सकती थी। मैंने अपनी पढ़ाई पूरी न करके मूर्खता की। यहां सावित्री इस प्रकार से अपनी निर्बलता को जाहिर करती और साथ ही साथ शिक्षा का महत्व स्व–निर्भरता के लिए कितना आवश्यक है को भी बयान करती है। शायद वह शिक्षित होती तो आत्म निर्भर होकर स्वतंत्र जीवन बिता सकती थी और अपना मजबूत आधार तैयार कर पाती। नारायण ने जातिगत आधार पर सबल और निर्बल नारी किरदारों को बखूबी चित्रित किया। उपन्यास में पोन्नि जो कि एक ताला बनाने वाली की पत्नी है, कहीं पर भी अपने पति से दब्बू नहीं पायी गयी वह हमेशा ही एक मजबूत इरादों के साथ अपने पति का सामना करते दिखाई पड़ती है जबकि सावित्री उच्च जाति के बाद भी उत्पीड़ित अधिक पायी गई है।

जिसमें सावित्री के माध्यम से उच्च जाति में स्त्री सबल और निर्बल में विभाजित देखी गई है जिसमें सावित्री के माध्यम से उच्च जाति में स्त्री उत्पीड़न और स्त्री निर्बलता अधिक स्पष्ट चित्रित है जबकि निम्न जाति में यह उतना कठोर नहीं है। आर.के. नारायण के उपन्यास द गाइड में रोजी मुख्य स्त्री किरदार का संबंध मंदिर में नश्त्य करने वाली खानदान से था। वह वैसे तो संगीत में परास्नातक थी जो कि उसके शिक्षित होने का प्रबल परिचायक है। शिक्षित होने के बाद भी वह पितृसत्तात्मक संरचना के बंधनों से मुक्त नहीं देखी गयी है और एक निर्बल और असहाय स्त्री का ही चित्रण प्रस्तुत करती है। शिक्षित होने के बावजूद वह अपने पति के विरूद्ध उसे किसी भी चीज का निर्णय का अधिकार नहीं होता है। रोजी की सबसे तीव्र इच्छा एक सफल नृत्यांगना बनने की होती है लेकिन उसकी यह इच्छा जब पूरी नहीं होती है, जब कि वह अपने पति वह मार्को से अलग नहीं हो जाती है को पूरा कर पाने में अक्षम रहीं। यहां उसके शिक्षित होने और नृत्य में शिक्षण प्राप्ति के बाद भी निर्बल स्त्री की ही अवस्था में पाया जाती है कुछ हद तक वह सबलता का तो परिचय प्रदान करती है परन्तु पूरी तरह से वह अपने आपको सबल बना पाने में अक्षम रहती है, शायद यह उसके शिक्षित होने का ही परिणाम होता है कि वह अपनी नश्त्य की इच्छा पूर्ति के लिए अपने पति मार्को से अलग हो पाती है और सामाजिक नियमों के विरूद्ध कदम उठा पाती है। अंत में

हम पाते हैं कि वह अपने पति के साथ समझौते के लिए तैयार हो जाती है अर्थात इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक स्त्री की शिक्षा के साथ–साथ उसमें दृढ़ता का होना भी आवश्यक है।

उपन्यास 'कला स्नातक' में मालती जो कि चंद्रन की प्रेमिका थी। निश्चित ही शिक्षित थी। क्योंकि चंद्रन ने उसे एक पत्र में लिखा था कि वह दो साल शादी के लिए इन्तजार नहीं कर सकती है। लेकिन मालती द्वारा इसका कोई उत्तर नहीं आया और उसकी शादी किसी अन्य लड़के से कर दी जाती है। अथ्रात मालती शिक्षित होने के बाद भी इतनी निर्बल थी कि वह अपने प्रेमी चन्द्रन को उत्तर न दे सकी और आपने माता पिता के अनुसार दूसरे लड़के से शादी कर ली। यहां उसकी शिक्षा का उपयोग उसकी अपनी स्वतंत्र जीवन और निर्णय से कोई लेना देना न था, बल्कि उसे वैसा ही करना पड़ा जैसा कि उसके घर वाले चाहते थे। जिसमें उसकी इच्छा का कोई महत्व ही नहीं था। अर्थात वह एक निर्बल स्त्री को संकेत करती है। इस उपन्यास में दूसरी लड़की का चित्रण सुशीला के रूप में मिलता है जो छठी कक्षा में पढ़ रही थी। इसी के साथ चंदन का विवाह होना तय हुआ। यहां उसके छठवीं में पढ़ने का अर्थ केवल घर एवं परिवार को अच्छे से संभालने से जयादा कुछ भी न था। वह किसी रूप में सबल नहीं पायी गयी है। एक प्रसंग में वह चंद्रन को लिखती है कि वह अपना ध्यान रखें। सुबह जल्दी नहीं उठा करें और उसके कार्य के लिए प्रार्थना करती थी। यह सब उसके एक धर्म पत्नी होने से ज्यादा कुछ नहीं था।

धर्म के आधार पर स्त्री की स्थिति

यदि नारीवादी अध्ययन की बात आती है तो सबसे पहला सवाल होता है स्त्रियां कहा है? यदि स्त्री पुरूष दोनों धार्मिक कार्यो में भाग लेते है तो लिंग भेद क्यों? यहां पर स्त्रियों द्वारा सम्पादित धार्मिक कार्यो के आधार से स्त्री सबलता एवं निर्बलता को लाने की कोशिश की जायेगीं मुख्य रूप धार्मिक कार्यो में भी उन्हें वहीं कार्य या स्थिति प्रदान की जाती है जो कि परम्परागत आधार पर चला आता रहा है।

जैसा कि डोला कोस्टा नारीवादी शोध के लिए बताती है कि उन कार्यो को समझना अतिआवश्यक हो जाता है जो कि किसी वेतन से परे है। हमें उन कार्यो को दृश्य बनाना है जो कि दैनिक जीवन में हम देखते हैं जैसे कि घरेलू कार्य, सामुदायिक कार्य, धार्मिक कार्य, लेकिन इन कार्यो को करने वाले और कार्य के मध्य भिन्नता ला पाना बहुत ही कठिन माना गया जिसका कारण लिंग के आधार पर इन कार्यो का घनिष्ठ संबंध बताया जाता है (Heyer- Gray 2000 : 468)।

स्त्रियां धार्मिक कार्यो में या धार्मिक अनुष्ठानों में कम बल लगने वाले कार्यो को दी जाती है, जिसमें कि कुछ धार्मिक पुस्तकों को पढ़ने, हवन सामग्री तैयार करने और प्रसाद वितरण के कार्यो को करती है। धार्मिक अनुष्ठानों के समय स्त्रियों का मुख्य कार्य भोजन का प्रबंध करना और पकाना पाया जाता है जो कि व्यक्तिगत और निजी माना जाता है। सार्वजनिक कार्यो को पुरूषों द्वारा किया जाता है।

स्त्रियां प्रमुख तौर पर धार्मिक कार्यो में पुरूषों के पूरक रूप में अपनी भूमिका अदा करती है न कि मुख्य भूमिका में नेतशत्व करती है। वे कम सार्वजनिक कार्यो को करती है। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि धार्मिक कार्यो का बटवारा भी लिंग आधार से परे नहीं है जो कि उनकी सबल और निर्बल की स्थिति को बयान करता है।

नारायण के उपन्यास 'द डार्क रूम' में सावित्री मुख्य स्त्री किरदार अपने पति को सुबह दफ्तर के लिए विदा करने के बाद पूजा पाठक करती थी। पूजाघर में जाकर धूप–दीप जलाती है और देवी देवताओं पर फूल अर्पण करने के बाद ही अपना भोजन करती है जो कि उसका नित्य का काम था।

सावित्री के द्वारा उपन्यास के एक प्रसंग में अपनी निर्बलता के बारे में कहती है मैं भी एक इंसान हूँ। हालाकि तुम पुरूष लोग इस बात को कभी नहीं मानोगे। तुम सोंचते हो तुम लोग जब हमसे खेलना चाहो, हम तुम्हारे खिलौने हैं और बाकी समय तुम्हारे गुलाम है। पर ऐसा नहीं है। यह मत सोचो कि तुम जब इच्छा हो हमारे हो, हमारे प्रति प्रेम जता सकते हो और जब इच्छा हो ठोकर मार सकते हो।

इस प्रसंग में सावित्री अपनी निर्बलता की कुंठा के फलस्वरूप कहती है कि वह अपने पति का शांताबाई के प्रेम प्रसंग से मुक्त करा पाने में अक्षम हो जाती है। इस उपन्यास में सावित्री और उसकी मित्र जानम्मा दोनों ही अध्यधिक, धार्मिक प्रवृत्ति की है जो बगैर पूजा पाठ के अपना भोजन ग्रहण नहीं करती थी। उनके धार्मिक होने का सबसे बड़ा कारण न तो वे अधिक शिक्षित थी और नही आर्थिक रूप से आत्म निर्भर जो कि उन्हें पारिवारिक और वैवाहिक जीवन जीने के लिए मजबूर कर देता है और परम्परागत तरीके से जीवन जीने में धर्म का सहारा अपने को आंतरिक रूप से संतुष्टि प्रदान करने का एक साधन है।

ठीक उसी प्रकार से 'द गाइड' के माध्यम से धार्मिक होने का संकेत राजू जो कि एक गाइड का काम करता है, कि मां है। राजू की माँ एक पूर्ण धार्मिक और पत्नीव्रता महिला का चित्रण प्रस्तुत करती है क्योंकि वह न तो शिक्षित है न ही आर्थिक रूप से आत्म निर्भर बल्कि राजू के द्वारा कमाएं हुए धन से अपना जीवन पालती थी। उसकी निर्बलता उसे धार्मिक होने की मजबूर करती है जिससे वह पितश्सत्तात्मक संरचना के द्वारा निर्धारित जीवन जीने को ही बढ़ावा देती है। एक प्रसंग में वह रोजी, जो कि उपन्यास की मुख्य किरदार है से कहती है कि पत्नी धर्म निभाना इतना आसान नहीं है उसके लिए बहुत त्याग और आत्मबलिदान की आवश्यकता होती है। पत्नी धर्म का निर्वाह करने के लिए संस्कारों और परम्पराओं का पालन अतिआवश्यक है। क्योंकि धर्म हमेशा ध ार्मिक नियमों एवं अनुष्ठानों द्वारा पत्नी को पतिव्रता होना सिखाता है।

जैसा कि स्वतंत्र स्त्री का रूप ऋग वेद में बताया गया है कि – ''अहम् रूद्रेमिह वासुभिः चारमाथहम् यडियोरित् विशविदवैह'' अर्थात मैं रूद्र और वासु, आदित्य, विश्विद्वास और ब्रहमचारियों के समूह के साथ खेलती हूँ। मैं मित्रा और करून, इंद्र और अग्नि और अश्विन के साथ–साथ चलती हूँ। मैं सोम को लेकर चलती हूँ, जो दुश्मनों का नाश करती हैं इन सब गुणों एवं कार्यों वाली स्त्री को स्वतंत्र माना गया है (Jain & Mahan 1996 : 101)।

आर्थिक रूप से एक स्त्री के स्वतंत्र होने के लिए उसे इन दैवीय गुणों से संयुक्त होना चाहिए। जिससे कि उसे अपने विरूद्ध लोगों का सामना कर सके। इस प्रकार के गुण निश्चित ही एक स्त्री को धार्मिक कार्यो से बांधते हैं, जो कि उसे स्वतंत्रता का एक झूठा अनुभव मात्र ही प्रदान करते हैं। धार्मिक होना एक स्त्री को उसके परिवार एवं वैवाहिक जीवन में अधीन स्थिति को दिलाने में हमेशा सहायक रहा है जिसमें कि स्त्री इस पितश्सत्तात्मक संरचनाओं से अधिक मजबूती से बांध ा कर रखा जा सके और पितश्सत्तात्मक कार्यो के पूर्ति के लिए प्रेरित किया जाता रहे।

इस प्रकार से धर्म के द्वारा एक स्त्री को पुरूष के अधीन उचित ठहरा कर निर्बलता को मान्य बना दिया जाता है। ''धर्म ने दूसरी तरफ व्यक्तिगत और सार्वजनिक क्षेत्र विभाजन में भी मदद प्रदान करता है।'' जिसके अन्तर्गत एक स्त्री के कंधों पर पारिवारिक और वैवाहिक जीवन के निर्वाह की जिम्मेदारियां रख दी जाती है। इस प्रकार एक स्त्री को निर्बल स्थिति में ला दिया जाता है। जो पारिवारिक दायित्वों से कभी मुक्त होकर अपनी स्वतंत्रता आस्मिता का अनुभव ही नहीं कर पाती।

'द गाइड' में रोजी जो मार्को की पत्नी रहती है अपनी नश्त्य इच्छा की पूर्ति के लिए अपने पति से अलग तो हो जाती है परन्तु उसकी धर्मपत्नी और आदर्श नारी का रूप उसे कभी मार्को से बिल्कुल अलग रहकर अपनी स्वतंत्रता को अनुभव नहीं कर पाती है। उपन्यास में रोजी का चित्रण एक आदर्श नारी का ही है जो कि उसे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इस आदर्श स्थिति से निकल पाने में बाधक बनी रहती है। रोजी एक तरफ तो अपने पति से अलग होकर एक सशक्त स्त्री का परिचय प्रदान करती है परन्तु दूसरी तरफ अपने पति को हमेशा महसूस करते रहने से वह उससे कभी स्वतंत्र होकर अपने आपको अनुभव कर पाने में अक्षम पाती है इस प्रकार वह सबल और निर्बल दोनो ही स्थिति का चित्रण करती है इस प्रकार का स्त्री का चित्रण नारायण को काल्पनिक कला हो एक सामान्य विशेषता रही है।

नारायण के अन्य उपन्यास 'कला स्नातक' में चंदन की मां माला फेरते हुए राम का पवित्र नाम लेते हुए और मन में आंशिक रूप से अपने पति, गश्हस्थी, बच्चे संबंधित आदि में विषय में विचार करते हुए देखा गया है।

अर्थात चंद्रन की मां एक धार्मिक महिला है जो पितश्सत्तात्मक संरचना द्वारा निर्धारित मूल्यों का वहन करती है। वह इस संरचना द्वारा ऐसा करना अनिवार्य ओर बाध्य है। चंद्रन एक बार नदी के किनारे घूमती हुयी मालती नाम की लड़की के प्यार में पड़ जाता है और सोचता है कि यदि वह चौदह साल से ज्यादा की हुई तो वह विवाहिता होनी चाहिए। किसी शादी शुदा लड़की के बारे में सोचने से क्या फायदा? यह अनुचित है अर्थात स्त्रियां यहां इतनी निर्बल थी उनकी अपनी एक उम्र तक आते–आते शादी हो जाती थी। सप्ताह में दो दिन वह लड़की नदी के किनारे घूमने नहीं आती थी। इस पर चंद्रन ने कल्पना कि वह शायद इन दो दिनों में मंदिर जाती होगी, जिसको की स्त्रियों को करना अनिवार्य था। चंद्रन की मां पितृसत्तात्मक संरचना में बंधी तो थी लेकिन उनहें कुछ आर्थिक और अपनी सहेलियों के यहां जाना प्रतिबंधित नहीं था। लेकिन वह पूरी तरह इतनी सबल नहीं थी कि अपने मत के अनुसार कुछ भी कर सकें।

उपन्यास में चंद्रन का मांगलिक होना उसके और मालती के प्रेम संबंध में बाधक सिद्ध हुआ, जिसमें की दोनों की लिंग प्रभावित हुए और अलग–अलग लड़का–लड़की से शादी करनी पड़ी। अर्थात मालती किसी भी रूप में इतनी सक्षम न थी अपने मां बाप के विरूद्ध होकर चंद्रन से शादी कर पाती। चंदन की मां पितृसत्तात्मक संरचना में इस कदर बंधी थी कि लड़के के मांगलिक होने को दोष पर लड़की को ही कोशती है।

चंद्रन की शादी को लेकर उसकी मां लड़की देखने के संदर्भ में बताती है कि विवाह के लिए लड़की की कुडली दसियों जगह भेजी जाती है और उन्हें दशियों बार देखा जाता है, इसे उसकी मां गलत नहीं मानती है, बल्कि बताती है कि यह तो हमेशा से चला आया है इसमें बुरा मानने जैसी

कोई बात ही नहीं है। अर्थात लड़की को शादी के लिए कितनी भी बार और मन किया जा सकता हैं इसे सामाजिक रूप से बिल्कुल बुरा नहीं माना जाता है।

इस प्रकार स्त्री की सबलता एवं निर्बलता उनके शिक्षित, अशिक्षित होने या आर्थिक रूप से निर्भर होने आदि पर अधिक निर्भर नहीं देखा गया है। नारायण शायद स्त्री की सबलता निर्बलता के संदर्भ में तथ्यों को व्यंगात्मक रूप में प्रकट करने में विश्वास रखते हैं जो कि स्त्री को कभी सबल तथा कभी निर्बल दिखाते हुए प्रतीत होते हैं।

निष्कर्ष

नारीवादी आलोचना का मुख्य आलोचनात्मक कार्य पहले से प्रस्तुत साहित्य, ग्रंथों को एक नई दृष्टि से समझने का प्रयास है और उस दिशा की तरफ संकेत करना है जो कि मुख्य धारा (पुरूषों द्वारा निर्मित धारा)के द्वारा हमेशा नकारा जाता रहा है। यदि हम वास्तव में साहित्य एवं धर्म ग्रंथों या अन्य स्त्रोतों की गूढ़ बातों की वास्तविकता जानना चाहते हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि प्रस्तुत स्त्रोंतों को एक नई दृष्टिकोण से विश्लेषण किया जाये। स्त्रियों के बारे में यदि गहनता से देखा जाए तो जहां हम कल के बारे में अग्रदूत थे। वहीं आज के संदर्भ में उन्हीं मूल्यों को पीछे ले जाते हैं। माँ के रूप में उनके बंधे हाथों को ही देखते हैं जिसमें कि उसके लिए केवल प्यार ही एक मात्र सहारा नजर आता है। हम लोग केवल मुस्कराते हुए नजर आते हैं और खुद भी उन स्त्रियों के उत्पीड़न के लिए कुछ नहीं कर पाते हैं। साहित्य हमारे काल्पनिक दशा का रूप है और साथ ही साथ एक आलोचनात्मक आवाज का स्त्रोत भी है। अंग्रेजी–भारतीय साहित्य में स्त्री पक्षों की आलोचनात्मक रूप` यह आवश्यक माना जाता है कि उस समय के समाज तथा साहित्य को आमने–सामने लाकर एक धरातल पर समझा जाये। जैसा कि सांड्रा हार्डिंग भी इस बात को मानती है कि स्त्री प्रश्नों को समझने के लिए स्त्री प्रश्नों को और पितृसत्तात्मक समाज को एक स्तर पर लाकर आलोचनात्मक रूप से वस्तुनिष्ठ विश्लेषण किया जाना चाहिए।

आर.के. नारायण के उपन्यास निश्चित रूपसे उन दमनात्मक पक्षों का चित्रण करते हैं जो कि स्त्री के व्यक्तिगत चेतना और आत्मपन का प्रदर्शन भी देखने को मिलता है, जो कि पूर्ण न होकर आंशिक स्तर पर महसूस किया जा सकता है। समाज का स्त्री के प्रति व्यवहार में परिवर्तन लाने में सहायक बन सकता है। नारायण के उपन्यास में सांस्कशतिक और नैतिक पक्ष, केन्द्र बिन्दु के रूप में रहे हैं। जिन्हें कि उन्होंने स्त्री शोषण से देखने का प्रयास किया है। आर.के. नारायण के उपन्यासों में माँ, पत्नी और बहनों की भूमिका में स्त्रियाँ कष्टों को सहने वाली या धैर्यवान, सहनशीलत, स्थितियों से समझौता करने वाली पायी गयी है। इनके उपन्यासों में स्त्री भूमिका में भिन्न स्थितियों के मध्य संतुलन बनाती हुई देखी गयी है। इन उपन्यासों में सामाजिक संस्थाओं जैसे परिवार एवं विवाह का भी चित्रण स्पष्टता से प्रदशित करने की कोशिश की गयी है, लेकिन उन तथ्यों को कम देखा गया है जो कि इन संस्थाओं के मध्य बाधा के रूप में आये या चुनौती खड़ा कर सके। नारायण, माता–पिता द्वारा प्रबंध–विवाह और इसमें रिश्तों के गहरे धब्बो को प्रस्तुत करने में सक्षम देखे गये हैं। नारायण भारतीय विवाह में उन तनावों को भी दिखाने में सक्षम रहे हैं जो कि जीवन में तनाव एवं उत्पीड़न पैदा करते हैं इनके द्वारा भारतीय स्त्री का आदर्श रूप उसकी अच्छेपन और सहयोग की ही भावना से प्रदर्शित होती है तथा साथ ही साथ अमानवीय पक्षों को भी दर्शाती है जैसा कि हम नारायण के उपन्यास 'द डार्क रूम' में देखते हैं कि एक स्त्री अपनी स्थिति

से किस तरह से समझौता करके घर पर वापस आ जाती हे और उसके लिए घर के बाहर की दुनियां में कोई जगह नहीं बचती है जहां वह स्वतंत्र एवं सम्मान से अकेला जीवन व्यतीत कर सके। नारायण निश्चित रूप से अपने जीवन के अनुभवों को अपने उपन्यास के किरदारों के माध्यम से समाज के विभिन्न पक्षों का सूक्ष्म चित्रण प्रस्तुत करते हैं जिसमें कि स्त्रियाँ अलगाववाद, हाशिएकरण की अवस्था को झेलती है। स्त्री किरदारों द्वारा चुपचाप कष्टों को सहन करना प्रबलता से प्रस्तुत किया है। आर. के. नारायण पुरूष किरदारों के माध्यम से समाज की संरचना को प्रदर्शित करने में भी अच्छी तरह कामयाब पाये जाते है। यह पितृसत्तात्मक समाज में उत्पीड़न घर के अंदर हो या बाहर। घर के अंदर वे घरेलू प्रताड़ना को पति और पत्नी के संबंध के माध्यम से प्रदर्शित करते हैं। स्त्री इच्छा के संदर्भ में यह देखा गया है किस तरह से एक स्त्री की इच्छाओं का दमन पुरूष अपने पुरूषत्व के आधार पर करता है दूसरी तरफ इसे विरोधी स्थिति में वहीं स्त्री की आकांक्षा को एक पुरूष के द्वारा पूर्ण किया जाता है इस प्रकार वे अप्रत्यक्ष रूप में पुरूष की भूमिका का चित्रण करते हैं और सामाजिक दृष्टि से पुरूष वर्चस्व को प्रस्तुत करते हैं। जिसका उदाहरण 'द गाइड' को माना जा सकता है। पत्नी किरदार द्वारा आर. के. नारायण अपने उपन्यासों में भारतीय हिन्दू पत्नी के आदर्श रूप को प्रदर्शित करते हैं, जिससे पत्नी हमेशा हिन्दं धर्म के अनुसार निर्धारित धर्म पत्नी की विशेषताओं को बखूबी निभाती दिखाई गयी है। आर.के. नारायण का मुख्य स्त्री पक्ष केवल हिंदू स्त्री का ही चित्रण प्रदान करता है यह अजीब बात है कि वे अन्य धर्मों की स्त्रियों का चित्रण क्यों नहीं कर पाये।

नारायण अपने उपन्यासों के माध्यम से कई बार पुरूष के सन्यासी होने की स्थिति को भी दर्शाते हैं। जिसमें कि या तो वे गलती से सन्यासी समझ लिए जाते हें या फिर परिस्थिति की मांग के अनुसार सन्यासी होने का प्रदर्शन करते हैं। जैसा कि हम जानते हैं किस सन्यासी होना भी हिन्दू धर्म के चार आश्रमों में से एक है जो कि एक व्यक्ति को अपने जीवन काल में निर्वाह करना ही चाहिए। इस अवस्था को नारायण व्यंगात्मक रूप से प्रस्तुत करते हैं जिसमें यह स्वेच्छा से न होकर परिस्थितियों की मांग के आधार पर पाया जाता है लेकिन वे स्त्री सन्यासी का कोई भी उदाहरण नहीं प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय स्त्री की पत्नी की भूमिका मे पतिव्रता को नारायण प्रस्तुत करते हैं जिसका कि मुख्य जीवन उद्देश्य अपने पति एवं बच्चों के लिए समर्पित रहना एक महत्वपूर्ण विशेषता मानी गयी है, जिसमें शादी को मुख्य स्थान दिया गया है जहाँ कि एक व्यक्ति का बंधना प्राकृतिक माना गया है। इस बंधन में उस पर वफादारी और पत्नी धर्म का भार लाद दिया जाता है। पतिव्रता के रूप में स्त्री चित्रण सौभाग्वती की तस्वीर प्रस्तुत करता है जिसमें कि एक स्त्री शुभ संकेतों को लाने वाली अपने पति की हमेशा लम्बी उम्र की कामना करती हुई देखी गयी है। इसके लिए उसको सारे प्रकार के कष्टों को सहने वाली कहा गया है और एक ऐसी स्त्री का चित्रण पाया गया है जो कि परम्परागत रूप से पवित्र वफादार, धैर्यवान सहनशील, आत्म बलिदानी, शिकायत न करने वाली बताया है। ये विशेषताएं एक स्त्री से हमेशा अपेक्षित रही है जो उसके आदर्श बनने में सहयक मानी गयी है। पितृसत्तात्मक समाज ने इन विशेषताओं के आधार पर स्त्री के आदर्श को गढ़ा है और इनका निर्वाह करना एक स्त्री का कर्तव्य माना है, जो स्त्री इसका निर्वाह नहीं करती है वे निम्न और असामाजिक कहकर तिरस्कृत की गई है।

आर.के. नारायण संस्कृति एवं धार्मिक परम्परा में शुभ और अशुभ संकेतों का भी प्रस्तुतीकरण करते हुए पाये गये हैं, जो कि मानव जीवन को प्रभावित करते हैं, जैसा कि अपने उपन्यास के माध यम से किसी के मांगलिक होने का प्रभाव जीवन पर दर्शाते हैं जिसमें कि न केवल लड़की बल्कि लड़का भी झेलता है। ज्यादातर दोष लड़की के माथे पर मढ़ दिया जाता है। आर.के. नारायण के उपन्यास के माध्यम से वे स्त्री के आद्यरूप और परम्परागत रूप का प्रस्तुतीकरण देखने को मिलता है जिसके द्वारा स्त्री की वास्तविक स्थिति को समझा जा सकता है। आद्यरूप के द्वारा उस स्थिति का चित्रण मिलता है जो कि स्त्री छवि का स्त्रोत और आदर्श तस्वीर को सामने लाने में सहायक होता है तथा दूसरा परम्परागत रूप स्त्री की मूक स्थिति और सहनशील छवि को सामने लाने में सहायता प्रदान करता है और अंत में उस स्थिति को जानना जिसमें कि स्त्री उन मूल्यों का खण्डन करती है, जो पितृसत्तात्मक आधार पर बनाये गये हैं। नारायण के उपन्यास स्त्री के आद्यरूप और परम्परागत रूपों को तो बखूबी दिखाते हैं लेकिन उन स्त्रियों को बहुत प्रभावी तरीके से सामने लाने में कम समर्थ पाये गये हैं। जो कि पितृसत्ता के विरूद्ध अपनी आवाज उठाती है। जैसे देखा जाय तो 'दि डार्क रूम' में शांताबाई का चित्रण स्पष्ट रूप में यह नहीं दर्शाता है कि वह पितृसत्ता की संरचना से बाहर है या उसकी परिधि में है कुछ हद तक वह इस संरचना से तो बाहर ही दिखती है परन्तु उसकी स्थिति पूरी तरह से स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ती है।

नारायण पुराणों में वर्णित धर्म पत्नी का प्रारूप प्रदर्शित करते हैं जैसे कि रमणी द्वारा सावित्री का उनके खाना न खाने से पहले को पत्नी धर्म से जोड़कर देखा गया है और रमणी सावित्री की प्रशंसा करते हुए कहता है तुम वैसी ही पत्नी हो जैसे कि पुराणों में कहा गया है। यदि मारकाण्डेय पुराण में स्त्री का चित्रण देखे तो कहा गया है कि स्त्री दया का रूप है जो कि उसकी स्त्रीत्व की अस्मिता को दर्शाता है और साथ ही यह कहा गया है कि यदि वह रूष्ट हो तो अग्नि के समान है। लेकिन बाद में समाज के विकास में साथ–साथ स्त्रियों पर आर्थिक उत्पीड़न और प्रतिबंध बढ़ते गये और परिवार के क्रम को बनाये रखने के लिए स्त्री के कंधो पर ये जिम्मेदारी मढ़ दी गयी कि वहीं इसकी वाहक होगी। यहाँ पर उसे अधिकार और निर्णय लेने की शक्ति प्रथक कर दिया गया इनके कंधों पर परम्परा को ढोने का बोझ रख दिया गया, जो कि नारायण के उपन्यासों से स्पष्ट दिखाई पड़ता है। माँ की भूमिका घर के अंदर अपने पति और बच्चों की सेवक से ज्यादा कुछ नहीं है और बाद में यही जिम्मेदारी पत्नी की भूमिका में देखी गयी है। पिता की भूमिका में यह बात कहीं नहीं आती है किस चीज से एक स्त्री खुश होती है या नहीं होती है वह केवल अपने सुख के लिए जीता चला जाता है। बार–बार यह प्रयास भी पाया गया है कि स्त्री को स्त्री बनाया जाये और उसे उसके कर्तव्यों को बनाते रहा जाये।

यहाँ नारीवादी दृष्टि से इन उपन्यासों का अध्ययन पितृसत्तात्मक समाज की संरचना में स्त्री के उन पक्षों को समझना है जिसके आधार पर एक ऐसे समाज की परिकल्पना तैयार हो सके। जिसमें स्त्री को जीवन के हर क्षेत्र में समानता के स्तर पर लाया जा सके क्योंकि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि देश या राष्ट्र का विकास केवल पुरूषों द्वारा ही पूर्ण किया जा सकता है बल्कि स्त्रियों की भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि पुरूषों का। यदि हम स्त्री पक्षों को समाज के विकास की मुख्य धारा से नहीं जोड़ते हैं तो देश का विकास सम्पूर्ण होना सम्भव नहीं हो सकता है। नारीवादी दृष्टिकोण से स्त्री को उस परम्पराबद्ध स्तर से बाहर निकलना है जिसमें वे हमेशा दब्बू, सहनशील

और दया की पात्र समझी जाती रही है, उनके गुणों को अवसर प्रदान करना अति आवश्यक हो जाता है। साहित्य के प्रत्येक पक्ष को सृजनात्मक तरीके से व्याख्या करने की जरूरत है जिसमें की स्त्री की भूमिका उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी एक पुरूष की। इन उपन्यासों के माध्यम से उन आवाजों को बाहर लाना है हो कि पितृसत्ता की संरचना द्वारा हमेशा दबायी जाती रही है। अन्यथा हम सारी विकास की प्रक्रियाओं के बावजूद भी रूढ़िवादी और प्राचीन काल से चली आ रहे स्त्री समस्याओं को हल कर पाने में असमर्थ ही रहेगें। ये हमारी असमर्थता हमें विकास की प्रक्रिया में शामिल होने से हमेशा बाधा ही उत्पन्न करेगी। शायद इसीलिए हमें नयी सोच और दृष्टिकोण से समाज के हर पक्ष को समझना जरूरी हो गया है, जिसमें की स्त्री को समानता के धरातल पर बगेर किसी लिंगभेद के लाया जा सके।

References

Heyer- Gray, Zoey A. 2000: ‘ Gender and Religious Work’ : *Sociology of Religion*, Vol. 61, No. 4, pp. 467-471

Jain, Pratibha and Rajan Mahan 1996: *Women Images*, Jaipur : Rawat Publications.

Sangiri, Kumkum and Sudesh Vaid 1989: *Recasting Women*, New Delhi: Kali for Women,

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna2016
वर्ष 2, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2016, पृ. 30–36

बैगा जनजाति में महिलाओं की सामाजिक प्रस्थितिः एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

राजा राम सिंह*

प्रत्येक समाज व्यवस्था को अपनी निरंतरता बनाये रखने के लिए यह अनिवार्यता है कि उसकी आवश्यकता की पूर्ति निर्बाध रुप में पूरित होती रहें, जिसके लिए उसे यह आवश्यक हो जाता है कि अपने सदस्यों में कार्यो का विभाजन उनकी प्रदत्त एवं अर्जित क्षमताओं व योग्यताओं के आधार पर करने की व्यवस्था करे (दुर्खीमः2005)। किसी भी समाज का विकास इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपने सदस्यों कि किस मात्रा में क्षमताओं का दोहन कर पाता है अर्थात श्रम विभाजन किन आधारों पर विभाजन करने की व्यवस्था किया है। समाज को अपनी सामाजिक संरचना के विभिन्न पदों पर विभिन्न सदस्यों को बैठाने तथा विभिन्न पदों के अनुकूल उनसे कार्य लेने के साथ ही उसे अपने सदस्यों में प्रेरणा सम्बन्धी समस्या को दो स्तरों पर सुलझाना पड़ता है। प्रथम– उचित व्यक्यिों में समाज के विभिन्न पदों को प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न करना और दूसरा, जब वे अपने पदों को प्राप्त कर लें तो उनमें पदों से सम्बन्धित कर्तव्यों के पालन करने के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना पड़ता है (डेविसः2005)। प्रत्येक समाज का निर्माण मनुष्यों द्वारा ही होता है, जिसे लिंग के आधार पर हम उसे महिला एवं पुरुष के रुप में जानते व पहचानते हैं। समाज में समाज के सदस्यों की लगभग आधी जनसंख्या महिलाओं की है। जनसंख्या की निरंतरता, सांस्कशतिक नैसर्गिकता तथा परिवार की गत्यात्मकता में महिला का महत्वपूर्ण योगदान है। शास्त्रीय रुप से किसी समाज में एक समूह की स्थिति क्या है? का विश्लेषण उस समाज (समग्र) द्वारा समूह के सदस्यों को कौन कौन से कार्य प्रदान किया गया (श्रम विभाजन) है, के विश्लेषण से ही समझा जा सकता है। श्रम विभाजन से हमारा तात्पर्य किसी व्यवस्था को निरन्तरता प्रदान करने के लिए उसकी इकाइयों में कार्य के विभाजन की व्यवस्था से है। प्रस्तुत अध्ययन में

*समाजशास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर म.प्र.
rajaramsinghrdvv@gmail.com

बैगा समुदाय में महिलाओं–पुरुषों की सापेक्षिक स्थिति क्या है? तथा परिवर्तन की आधुनिक शक्तियों द्वारा उनकी स्थिति किस रुप में प्रभावित हुई है, की विववेचना की गयी है।

I

भारत में प्रस्थिति (tatu) की अवधारणा का अनुप्रयोग समाजवैज्ञानिकों द्वारा भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता रहा है। यह शब्द इतना अधिक सामान्यीकश्त हो गया है कि सामान्य बोलचाल तथा अन्य विज्ञानों द्वारा भी परिवर्तन या प्रभाव की मात्रा के अर्थ में प्रयोग किया जाने लगा है। ऐसी परिस्थितियां इस पद के अर्थ की अनिश्चितता को प्रतिबिम्बित करती है, जो किसी भी विज्ञान को वैज्ञानिक धरातल पर स्थापित करने व बनाये रखने में सबसे बड़ी बाधा है। मजुमदार व मदान (2004:123) ने प्रस्थिति शब्द का प्रयोग ऐसी भूमिकाओं के अर्थ में किया है जो इन्हें सम्पादित करने वाले व्यक्ति को प्रतिष्ठा प्रदान करती है। स्थिति शब्द कभी कभी एक व्यक्ति की समाज में सम्पूर्ण स्थिति के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। उस अर्थ में उसकी सभी स्थितियों और उसके व्यक्तिगत गुणों और उपलब्धियों से अर्जित सम्पूर्ण प्रतिष्ठा इस शब्द से ज्ञापित होती है। (जान्सन:1990:20)

सामाजिक पद समाज द्वारा स्वीकश्त अधिकारों एवं कर्तब्यों का संकुल हैं। सामाजिक पद के दो अंग हैं– एक कर्तब्यों (दायित्वों) से आवेष्ठित और दूसरा अधिकारों से आवेष्ठित। सामाजिक पद के इन दो अंगों को हम उसकी भूमिका और उसकी स्थिति कहते हैं। भूमिका कर्तब्यों को ज्ञापित करती है और स्थिति उसके अधिकारों को। एक व्यक्ति सामाजिक पद को तब धारण करता है जबकि सामाजिक प्रणाली में उसके कुछ कर्तब्य (दायित्व) हों। (जान्सन 1990:16) इस सम्बन्ध ा में दो बातें महत्वपूर्ण हैं– प्रथम– भविष्य में किसी स्थिति को सम्भालने के योग्य बनाने की प्रक्रिया शिशुकाल से ही आरम्भ हो जानी चाहिए। शिशुओं का समाजीकरण एक लम्बी एवं कठिन प्रकिया है, जो पूर्णरुप से कभी प्राप्त नहीं होती। द्वितिय– बहुत दिनों तक बच्चे को सांस्कशतिक प्रभाव से अछुता नहीं रखा जा सकता। भविष्य के किसी पद के लिए बच्चे का निर्माण कार्य उस समय तक आरम्भ नहीं हो सकता जब तक बच्चे के पास पहले से ही कोई पद न हो।(किग्सले डेविस 2005:84) इस आवश्यकता की प्रतिपूर्ति हेतु मानव शिशु को दो आधार पर शिशु को सामाजिक पद प्रदान करता है– प्रथम– सामान्य आधार अथवा शारीरिक आधार जैसे– लिंग, आयु, द्वितिय– विशिष्ट आधार अथवा समूह की सदस्यता के आधार पर, यहां यह कहना प्रासंगिक है कि एक शिशु जन्म के साथ ही समूह का सदस्य बन जाता है। उदाहरणार्थ– जाति, समुदाय, राज्य, नातेदारी, परिवार, गांव इत्यादि की सदस्यता शिशु प्रदत्त रुप में प्राप्त करता है। यद्यपि समाज द्वारा अस्वीकश्त शिशु को भी कुछ सामान्य व विशिष्ट आधारों पर पद प्राप्त होते ही हैं। बढ़ती आयु व अर्जित योग्यता के अनुरुप पदों की संख्या व स्थिति में बश्द्धि होती रहती है। प्रत्येक वह समूह जो पद और आफिस से जुड़ा है, उसकी सदस्यता व उससे सम्बन्धित पदों की कुछ अनिवार्य शर्तें, नियम व योग्यता समूह द्वारा निर्धारित होती है तथा उसकी संरचना में अनेक सामाजिक पद स्तरीकश्त विन्यास में अवस्थित होते हैं व उनसे जुड़े दायित्व व अधिकार होते हैं। निर्धारित योग्यता अर्जित करके ही कोई व्यक्ति ऐसे समूहों का सदस्य बनता है एवं पद प्राप्त करता है। समूह व सामाजिक संरचना में आवेष्ठित पद के अधिकार सम्बन्धी पक्ष को हम स्थिति कह सकते हैं।

सामान्यतया समाज के विभिन्न पद आपस में अन्तर्सम्बन्धित अधिकारों तथा कर्तब्यों द्वारा इस प्रकार सम्बद्ध होते हैं कि उनके कार्यात्मक व्यवहार से उद्देश्य की प्राप्ति होती है तथा सामूहिकता को स्थायित्व मिलता है। स्थायित्व प्राप्त करने वाली इन वस्तुओं में स्थितियों की व्यवस्था स्वयं भी सम्मिलित है। मौलिक रुप से स्थिति तो स्थायी रहती है, लेकिन स्थिति ग्रहण करने वाले व्यक्तियों में परिवर्तन होता रहता है। इससे इस बात को बल मिलता है कि अन्तर्सम्बन्धित होने के कारण एक भूमिका का प्रभाव अन्य स्थितियों पर भी अधिकांश या न्युनांश, सकारात्मक या नकारात्मक रुप में पड़ता है। कोई सामाजिक पद एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा धारण किया जा सकता है, कुछ पद एक समय में केवल एक ही व्यक्ति द्वारा धारण किया जाता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि एक ही व्यक्ति कई सामाजिक पद धारण करता है। इन स्थितियों में कोई न कोई एक 'मुख्य स्थिति' होती है जो समूह में व्यक्ति के साथ सर्वाधिक प्रचलित होती है जिसके पदाधिकारी के रुप में व्यक्ति की सर्वाधिक पहचान होती है। स्थितियों की इस समग्रता को स्थिति संकुल की संज्ञा दी जा सकती है। किसी एक सामाजिक पद को धारण करने वाले, चाहे वे किसी भी समूह विशेष के सदस्य हों, एक 'स्थिति समूह' के सदस्य कहे जाते हैं। व्यवस्था द्वारा लैंगिक आधारों में समसंतुलन को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक पद के साथ कुछ शक्ति और प्रतिष्ठा आरोपित किया जाता है, जो विचारों और मूल्यों द्वारा अनुदेशित होते हैं। अतः किसी समूह या वर्ग की सामाजिक स्थिति का तात्पर्य उस समूह व सामाजिक संरचना में आवेष्ठित पद के अधिकार सम्बन्धी पक्ष से है, जिसके द्वारा श्रम विभाजन (किसी व्यवस्था को निरन्तरता प्रदान करने के लिए उसकी इकाइयों में कार्य विभाजन की व्यवस्था) किया जाता है। तत्कालीन समय में किसी समूह या वर्ग की स्थिति की समझ विकसीत करने के लिए यह आवश्यक है कि उससे सम्बंधित वैधानिक विधान एवं उनका दैनंदिन जीवन में उपयोग को भी संज्ञान में लिया जाय।

II

जनजातीय समाज में महिलाओं की प्रस्थिति अजनजातीय समाजों के सापेक्ष उच्च रही है। बाह्य लोगों के साथ जनजातीय सम्पर्क, अंग्रेजों द्वारा जनजातीय क्षेत्रों में हस्तक्षेप(सिंहः2013), लोकतंत्रीकरण एवं औद्योगीकरण इत्यादि परिवर्तनकारी शक्तियों ने जनजातीय निर्भरता को नकारात्मक रुप में प्रभावित किया। 1947 के पश्चात भारत का एक राज्य के रुप में पुनर्गठन तथा लोकतंत्रात्मक प्रणाली का अनुपालन हेतु यह आवश्यक था कि राज्य के अंतर्गत रहने वाले रहवासीयों में विषमस्तरीयता को हतोत्साहित किया जाय तथा निचले स्तर पर जीवन यापन करने वाले समुदायों के विकास हेतु अतिरिक्त उपाय किया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सम्पूर्ण जनसंख्या को सामान्य, अन्य पिछड़ा वर्ग, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति संवर्ग में विभाजित किया गया तथा सभी वर्गो के विकास के लिए आरक्षण की व्यवस्था गयी तथा साथ विभिन्न संवैधानिक उपबंध किये गये तथा साथ ही महिलाओं को पुरुषों के समान कार्य के अवसर प्रदान करने के लिए संवैधानिक व्यवस्था की गयी, यथा– अनुच्छेद 243 क(3) विभिन्न पंचायत क्षेत्रो को चक्रीय स्वरुप में प्रत्येक पंचायत में प्रत्यक्ष चुनाव में कुल सीटों की एक तिहाई सीटें अनुसूचित जाति, जनजाति एवं महिलाओं के लिए आरक्षित की गयी हैं। अनुच्छेद 243 क(4) पंचायत के प्रत्येक स्तर पर कुल संख्या का एक तिहाई कार्यालय मुख्याधिकारी महिलाओं के लिए आरक्षित हैं। अनुच्छेद 243 ज(3) विभिन्न नगरसभा क्षेत्रों को चक्रीय स्वरुप में प्रत्येक नगरसभा में प्रत्यक्ष चुनाव में कुल

सीटों की एक तिहाई सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित हैं, जिसमें अनुसूचित जाति, जनजाति भी सामिल हैं। अनुच्छेद 243 ज(4) नगरसभा कार्यालय मुख्याधिकारी अनुसूचित जाति, जनजाति एवं महिलाओं के लिए आरक्षण राज्यों के विधानों द्वारा उपलब्ध कराया गया है। इसके फलस्वरुप महिलाओं को राजनीतिक अभिजन (शर्मा:1979) की भूमिका सम्पादन के अवसर में अभिवृद्धि हुई है। इससे महिलाओं की भागीदारी न सिर्फ ग्रामीण नगरीय अन्तःक्रिया की प्रक्रिया (वृजराज चौहान:1990) में हुई अपितु इनकी अन्तःक्रिया परिधि राष्ट्र–राज्य (प्रहलाद मिश्रा:29फरवरी से 1मार्च 2008) के केन्द्र (संवैधानिक रूप से वे केन्द्र में आ चुके है) में आने की प्रक्रिया को तीव्र बना रही है, जिसके फलस्वरुप महिलाओं की प्रस्थिति में उर्ध्वमुखी गतिशीलता परिलक्षित होती है।

राव (2002) ने अरुणांचल प्रदेश में जनजातीय महिलाओं की सामाजिक आर्थिक स्थिति को विश्लेषित किया है तथा कहा कि सन् 1985 के बाद अरुणांचल प्रदेश के महिलाओं की एक बड़ी संख्या मजदूरी के व्यवसायिक क्रियाकलापों में सहभाग करती हैं, साथ ही वे घरेलू भोजन व्यवस्था में भी शामिल हैं। इस प्रकार औसतन वे 12 घण्टे प्रतिदिन कार्य करती हैं तथा वे दोहरे कार्य से जुझ रही हैं। दास गुप्ता (2000) भील जनजाति की महिलाओं में पहचान और संघर्ष को अवलोकित किया जो जीविका के लिए विचलनकारी कार्यो की ओर उन्मुख हो रही हैं। भील समूह में संघर्ष स्पष्ट रुप से परम्परागत जीवन पद्धति का त्याग और व्यवसायिक औद्योगिक स्तर में प्रवेश किया है। यह स्थिति नगरीकरण के प्रभाव को प्रतिबिम्बित करता है। वीना भाषिन (2007) ने भारत की जनजातीय महिलाओं के अध्ययन में पाया कि– धार्मिक दश्ष्टिकोण से महिलायें अशुद्ध स्वीकार की जाती हैं, उन्हें न हल चलाने और न ही आध्यात्मिक शक्तियों से सीधे अन्तःक्रिया करने की अनुमति होती है, फिर भी जनजातीय क्षेत्र में आर्थिक चक्र और श्रम विभाजन में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है, यह आर्थिक भूमिका निःसंदेह महिलाओं की सामाजिक स्थिति से प्रभावित है, उसकी सामाजिक स्वतंत्रता उसके महत्व को रेखांकित करती है। केया पाण्डेय (2011) ने हिमांचल प्रदेश के भरमौर के अध्ययन में पाया कि पर्यावरणीय और वातावरणीय कारकों के अस्तित्व महिलाओं को एक विशेष आर्थिक शक्ति प्रदान किया है तथा महिला की सामाजिक प्रस्थिति और सत्ता पुरुष के समान है। गार्गी दास (2012) ने उड़ीसा के सुंदरगढ़ जिला के संतोषपुर गांव के अध्ययन में पाया कि– इस क्षेत्र की जनजातीय महिलाओं का घरेलु निर्णय निर्माण में उच्च भूमिका है। वह स्वयं के खर्च दैनिक घरेलु खर्च, स्वजन और सम्बन्धियों से मिलने तथा रोगों के इलाज के लिए स्वतंत्र होकर निर्णय लेती है। वह पुरुष के साथ बराबर निर्णय निर्माण में भूमिका सम्पन्न करती है तथा परिवार स्वनिर्भर बना रहता है, लेकिन वह सामूदायिक स्तर पर निष्क्रिय रहती है। पुतराजा एण्ड ओ.डी. हेगाडे (2012) ने अपने अध्ययन में पाया कि– जनजातीय समाज में महिलायें सामाजिक, सांस्कशतिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन के तरीकों में महत्वपूर्ण भूमिका सम्पादित कर रही हैं और उन्हें उनके समाज आर्थिक सम्पत्ति माना जाता है, लेकिन वे जीवन के पदयात्रा जैसे– शिक्षा, रोजगार, अच्छा स्वास्थ्य और आर्थिक शसक्तिकरण के पीछड़ेपन पर स्थिर हैं। एमेनुरप्पा एदकोबा तलवारी एण्ड मनिकम्मा नगिद्रप्पा (2014) ने तत्कालीन सामाजिक आदेश में महिला सशक्तिकरण को रेखांकित करते हुए निष्कर्ष दिया कि औद्योगीकरण एवं उसके परिणामस्वरुप बाजारीकरण ने जनजातीय अर्थव्यवथा को जमींदोज कर दिया, जिसमें महिला महत्वपूर्ण भूमिका सम्पादित करती रही है। जनजातीय महिलायें और बच्चे छोटे जंगली उत्पाद का निर्माण करते हैं। अन्य कार्य जैसे–

फैक्ट्री मजदूर, गशहस्वामीयों और घरों के निर्माण में कार्य करके परिवार की आय में सहयोग करती है। जनजातीय महिला उचित जीविका और सुंदर जीवन, पर्यावरण अवनयन और बाह्य लोगों के हस्तक्षेप की चुनौती का सामना करती है।

III

बैगा जनजाति मध्य भारत में पायी जाने वाली आदिम जनजातियों की श्रेणी में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इन्हें मध्यप्रदेश का मूल निवासी माना जाता है। इनकी जनसंख्या मध्यप्रदेश के डिण्डोरी और मंडला में पायी जाती है। बैगा जनजाति का मुख्य निवास क्षेत्र डिण्डोरी जिला है, यद्यपि मंडला जिला में भी इनकी जनजसंख्या छितरे हुए स्वरुप में पायी जाती है। बैगा विकास प्राधिकरण द्वारा 2004–2005 में कराये गये सर्वे के अनुसार 220 गांवों में इनकी कुल जनसंख्या 23443 है, जिसमें 11753 पुरुष एवं 11690 महिलाएं हैं।

बैगा जनजाति में श्रम विभाजन लैंगिक आधार पर शारीरिक मानसिक दुर्बलता, प्रजनन और बच्चों के समाजीकरण प्रक्रिया के समानुकूल तथा उन कार्यों में शक्ति और प्रतिष्ठा का आरोपण समसंतुलित स्वरुप में किया गया है तथा साथ ही सामाजिक जीवन के कुछ क्षेत्रों में पुरुष का एकाधिकार है तो कुछ क्षेत्रों में महिला का, जहां सांस्कशतिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में पुरुष को प्रधानता प्रदान की गयी है तो वहीं महिला को विवाह सम्बन्धी एकाधिकार प्राप्त है। बैगा जनजाति में आर्थिक व्यवस्था पशुचारण, आखेटन, कशषि तथा खाद्य संकलन के मिश्रित स्तर पर अभिस्थापित है तथा महिला और पुरुष की प्रस्थिति समान स्तर पर दिखाई देती है। जिसमें पुरुष जंगल में शिकार करने, लकड़ी काटने, ढोने, घर बनाने, हल (नागर) चलाने, बीज बोने, गौशाला की देख रेख, देवी देवताओं की पूजा एवं बलि चढ़ाने का कार्य करता है एवं महिलायें भोजन बनाने, पानी लाने, साफ सफाई, बच्चों का पालन पोषण, जंगल में फल–फूल, साक–सब्जी एकत्र करने का कार्य करती है तथा निराई, गुड़ाई, कटाई और गाहनी (अनाज निकालने) का कार्य दोनों मिलकर करते हैं। वर्तमान समय में महिला और पुरुष दोनों ही साथ साथ ठेके में मजदूरी करने जाते हैं।

सांस्कशतिक व्यवस्था में पुरुषों को महिला के सापेक्ष उच्च स्थिति प्राप्त है, जो पवित्रता और अपवित्रता की अवधारणा द्वारा परिभाषित होती है, जिसमें पुरुष भगवान का गुरु माना जाता है तथा उसे देवता की स्थिति प्राप्त है, इसलिए सभी पवित्र कार्य का शुभारम्भ पुरुषों के द्वारा किया जाता है, वहीं महिलाओं को पापिन माना जाता हैं, इसलिए ये सेवा का कार्य करती हैं तथा इनके हाथ से किसी शुभ कार्य का आरम्भ नहीं कराया जा सकता है। बैगा जनजाति में जैविक, सामाजिक एवं सांस्कशतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले अधिकांश प्रकार्य भी पवित्रता की अवधारणा से अनुप्राणित होते हैं यथा– शिकार करने जाने के पूर्व बैगा (पुरुष) मसवासी देवता को खड़ा (पुकारते हैं) करते हैं तथा आदेश देते हैं कि तुम धनुष और तीर पर बैठो और शिकार मिल जाना चाहिए। इनकी मान्यता है कि मसवासी देवता ही शिकार को मारता है, इसलिए यह पापकर्म भी नहीं है। महिलाएं शिकार इसलिए नहीं कर सकतीं क्योंकि ये पापिन (अपवित्र) है, इनके बुलाने से मसवासी देवता नहीं आयेगा। इसके अतिरिक्त महिलाओं को इन कार्यो से वंचीत करने का एक कारण स्त्रियों की शारीरिक कमजोरी, प्रजनन एवं बच्चे का समाजीकरण का कार्य भी है। बैगा महिलाओं को समाज व्यवस्था द्वारा वही कार्य प्रदान किये गये हैं, जो कम श्रम साध्य हों, खतरा न हो और आवास के निकट हो। जिसे वह भली भांति सम्पन्न कर सके तथा इन कार्यो से किसी

भी दशा में समाजीकरण का कार्य नकारात्मक रुप में प्रभावित न हो। वर्तमान समय महिलायें बच्चे को पीठ पर बांधकर कार्य करती है, जिससे समाजीकरण का कार्य भली पूर्वक सम्पन्न हो जाता है। निराई, गुड़ाई तथा गाहनी में अधिक शक्ति की आवश्यकता नहीं होती अर्थात श्रम साध्य का आधार, निकटता की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है।

बैगा जनजाति में घर के सबसे अधिक आयु के पुरुष को सयाना तथा महिला को सयानिन का पद प्राप्त होता है तथा घर के अन्दर सभी महत्वपूर्ण निर्णय दोनों मिलकर लेते हैं। सयानिन घरेलू निणर्य में महिलाओं का प्रतिनिधित्व करती है एवं घर की अन्य महिलायें सयानिन से निर्देश प्राप्त करती हैं, तो सयाना (पुरुष) परिवार में पुरुषों का तथा अन्य सभी पुरुष इससे निर्देश प्राप्त करते हैं। परिवार में सयाना का निणर्य सर्वमान्य होता है तथा परिवार के बाहर (पंचायत आदि) पुरे परिवार का प्रतिनिधित्व करता है, साथ ही महिला पुरुष के कार्यों पर अप्रत्यक्ष रुप में नियंत्रण भी रखती है।

सयाने और सयानिन का पद एकल परिवार के सन्दर्भ में अधिक आयु वाले लोगों को प्राप्त नहीं होती बल्कि इसका प्रमुख मानदण्ड है कि जब तक किसी व्यक्ति के पुत्रों का विवाह नहीं हो जाता तथा उसके प्रपौत्र बड़े नहीं हो जाते, तब तक कोई व्यक्ति सयाना एवं सयानिन का पद प्राप्त नहीं कर सकता। इतना अवश्य है कि परिवार में ऐसे व्यक्ति की अनुपस्थिति में उस परिवार के सबसे अधिक आयु का पुरुष सयाने का उत्तरदायित्व को निभाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह व्यक्ति सयाने के पद को प्राप्त नहीं करता अपितु मात्र उसे भूमिका सम्पादन का अधिकार अनिवार्य परिस्थिति में प्रदान किया जाता है। बैगा जनजाति में सामान्यतः विवाह के दो से तीन वर्ष पश्चात मूल परिवार से अलग आवास, चुल्हा और व्यवस्था कर लेने का प्रतिमान अभिव्याप्त है, लेकिन इससे सयाना और सयानिन पदों के अर्जन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

वैवाहिक व्यवस्था में महिलाओं को पुरुषों के सापेक्ष वरियता प्रदान की गयी है। विवाह में वरपक्ष वधुपक्ष के घर जाता है, जिस पर कन्या विवाह के लिए स्वीकशति देती है तथा वरपक्ष को विवाह के लिए वधुमूल्य चुकाना पड़ता है, साथ ही एक महिला विवाह को कभी भी भंग करने के लिए स्वतंत्रता होती है।

तत्कालीन समयावधि में शिक्षा अर्जन ने जनजातीय महिलाओं की जागरुकता में अभिवशद्धि की है, जिसके फलस्वरुप श्रम विभाजन के गशह के निकटता का आधार में ह्रास की दर में अभिवशद्धि हुई है तथा बैगा महिलायें सरकारी गैर सरकारी नौकरियों में सेवा प्रदान करने लगी हैं। राजनैतिक अभिजनों द्वारा संवर्गीय आरक्षण की चेतना अन्तःक्रिया के दौरान जनजातीय महिलाओं की ओर प्रसरित हो रहा है, जिससे चुनाव में महिला सहभागिता की दर में अभिवशद्धि हुई है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि बैगा जनजाति में पुरुष और महिला की प्रस्थिति आर्थिक व्यवस्था में समान स्तर पर है, राजनैतिक क्षेत्र में पुरुष परिवार का प्रनिधित्व करता तथा महिला घरेलू निर्णय लेती है, साथ ही अप्रत्यक्षतया वह पुरुष की गतिविधियों पर नियंत्रण रखती है। सांस्कशतिक जीवन में पुरुष की प्रस्थिति महिला से उच्च है, तो वहीं वैवाहिक सम्बन्धों में महिला को एकाधिकार प्राप्त है। बाह्य दुनिया से सम्पर्क, औद्योगीकरण तथा लोकतंत्रीकरण ने महिलाओं को ग्रामीण नगरीय अन्तःक्रिया की प्रक्रिया में शामिल करने में सहयोग कर रही है,

जिसके माध्यम से बाह्य दुनिया के विचार और मूल्यों के आगमनित होना सुनिश्चित हुआ है, जिससे महिला निर्योग्यता सम्बन्धी परम्परागत मूल्यों में ह्रास दिखाई देता है तथा इनकी प्रस्थिति को पुरुष के सापेक्ष सुदश्ढ़ हो रही हैं।

संदर्भ सूची

एस.एस.शर्मा (1979) रुरल एलिट्स इन इंडिया, न्यु देलही, स्टर्लिंग पब्लिशर्स।

केया पाण्डेय (2011) सोशियो इकोनोमिक स्टेट्स आफ ट्राइबल वुमेनः ए स्टडी आफ ए ट्रांसमुंेट गद्दी पापुलेसन आफ भरमौर, हिमांचल प्रदेश, इंडिया, इंटरनेशनल जर्नल आफ सोशियोलाजी एण्ड एंथ्रोपोलाजी, वो. 3(6) पश्. 189–198 जून 1911

गार्गी दास (2012) आटोनामी एण्ड डिसिजन मेकिंग रोल आफ ट्राइबल वूमेनः ए केश स्टडी आफ संतोषपुर विलेज इन सुदरगढ़ डिस्ट्रिक आफ उड़िसा, शोध प्रबंध प्रतिवेदन, डिपार्टमेंट आफ ह्युमिनिटिज एण्ड सोशल साइंसेज, नेशनल इंस्टिट्युट आफ टेक्नोलाजी, उड़ीसा।

चौहान, बश्जराज (1990) रुरल अर्बन आर्टिकुलेशन, इटावा, ए.सी. ब्रदर्श।

जान्सन, हेरी. एम. (1990) समाजशास्त्रः एक विधिवत विवेचन, कल्याणी पब्लिशर्स नई दिल्ली।

डेविस, किंग्सले (2005) मानव समाज, किताब महल इलाहाबाद।

दासगुप्ता (2000) ''एथिनीसिटीः आइडेंटिटी एण्ड कान्फिलक्ट एमांग ट्राइबल वुमेन लेबररर्स'' जर्नल आफ इण्डियन एन्थ्रोपोलाजीकल सोसायटी, 35:125–128

डी.पुला राव (जुलाई 2013) सोसिया इकोनोमिक स्टेट्स आफ सेडयुल्ड ट्राइब्स, एम.ई.आर.सी. ग्लोबल्स इंटरनेसनल जर्नल आफ मैनेजमेंट आई.एस.एस.एन. 2321–7278, वो.1, पश्.36–50

दुर्खीम, ई0 (1933) द डिविजन आफ लेबर इन सोसायटी, लंदन कोहेन एण्ड वेस्ट।

पुतराजा और ओ.डी. हेगडे (2012) इकोनामिक इम्पावरमेंट आफ ट्राइबल वुमेन इन कर्नाटकाः ए केस स्टडी इन मैसुर एण्ड चमाराजंगरा डिस्ट्रीक, कमलाराज स्टड. ट्राइब्स ट्राइबल्स, 10(2) पश्. 173–181

मजूमदार, डी. एन. और मदान, टी. एन. (2004) सामाजिक मानवषाश्त्र परिचय, मयुर पेपरबैक्स नोएडा।

मिश्रा, प्रहलाद (29फरवरी से 1मार्च 2008) इमिग्रेसन एण्ड मोविलिटी इन ए विलेज आफ इस्टर्न उ.प्र., शोध पत्र, इन्टेन्सिव विलेज स्टडी, गोविन्द बल्लभ पन्त इन्स्टीट्युट आफ सोशल साइंसेज इलाहाबाद।

यमोनरप्पा एनकोबा तलवारी और मनिकम्मा नगिद्रप्पा(सिप्तम्बर 2014) क्रिटिकल एसेसमेंट आफ द सेडयुल्ड ट्राइब वुमेन इम्पावरमेंट इन प्रजेंट सोशल आर्डर, रिव्यु आफ लिटरेचर, आई.एस.एस.एन. 2347–2723, वो.2, पश्.1–10

योगेन्द्र सिंह (2006) भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण, रावत पब्लिकेशन जयपुर।

वीना भाषिन 2007 स्टेट्स आफ ट्राइबल वूमेन इन इंडिया, कमला राज, 1(1) 1–16

बेली, एफ.जी. (1960) ट्राइब्स–कास्ट एण्ड नेषनः ए स्टडी आफ पोलिटिकल एक्टिविटी एण्ड पोलिटिकल चेंज इन हाईलैण्ड उड़ीसा, मैनचेस्टरः मैनचेस्टर युनिवर्सिटी प्रेस।

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna2016
वर्ष 2, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2016, पृ. 37–43

सामाजिक व्यवस्था : एक समग्रवादी दृष्टिकोण

श्रीपाल चौहान*

समाजशास्त्र के अध्ययन की प्रमुख विषय–वस्तु समाज के संगठन को समझना है व्यक्ति समूहों में संगठित होते हैं और समूह सामाजिक संस्थाओं द्वारा संचालित होते हैं। समाज की समग्रता को समझने के लिए दो तरीके अपनायें जा सकते हैं : एक तो यह कि हम समाज की छोटी–से–छोटी इकाई अर्थात् कम–से–कम दो व्यक्तियों से प्रारम्भ करें और फिर समूहों के बीच परस्पर सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुए समग्र समाज का बोध प्राप्त करें कि वह किन आदर्शों, मूल्यों, नियमों एवं भूमिकाओं के अनुसार संगठित है। दूसरा तरीका यह हो सकता है कि हम समग्र से शुरू करें, अर्थात् सामाजिक व्यवस्था को एक इकाई मानकर उसका विश्लेषण करें और धीरे–धीरे लघुतम सामूहिक इकाई तक पहुँचें। समाजशास्त्र में दोनों ही विधियों का प्रयोग होता रहा है (अब्राहम,1992 तथा मार्टिनडेल,1960)।

प्रस्तुत शोधपत्र में पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य के समाज–व्यवस्था पर चिन्तन को बोध और विश्लेषण की दृष्टि से विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार समाज–व्यवस्था पर आचार्य जी का समग्र चिन्तन समाहित हो जाता है।

समाज व्यवस्था : आचार्य जी की दृष्टि में

समाजशास्त्र में समग्र समाज को समझने के लिए एक से अधिक अवधारणाओं का प्रयोग हुआ है, यथा सामाजिक संगठन (Social Organisation) (बेनेडिक्ट, 1960), सामाजिक व्यवस्था (Social System) (पारसन्स, 1972), सामाजिक संरचना (Social Structure) (मुर्डोक, 1949), सामाजिक क्रम या व्यवस्था (Social Order) (बीयरस्टेड, 1970)। समाजशास्त्रियों ने इन अवधारणाओं के बीच सूक्ष्म अन्तर भी किये हैं (फेयरचाइल्ड, 1962 तथा रावत, 2006)। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य श्रीराम शर्मा आचार्य के दृष्टिकोण से सामाजिक व्यवस्था को समझना है।

सर्वप्रथम तो आचार्य जी समाज व्यवस्था को लेकर विश्व में प्रचलित अनेक मतवादों का उल्लेख करते हैं, जिनका प्रणयन मूर्धन्य समाजशास्त्रियों, विचारकों द्वारा किया गया है। उन्होंने इन सिद्धान्तों में निम्नलिखित को सम्मिलित किया है : (1) उपयोगितावाद; (2) साम्यवाद; (3) व्यक्तिवाद; (4) अराजकतावाद; (5) सामाजिक अनुबन्धवाद; (6) आदर्शवाद; (7) गांधीवाद; (8) समूहवाद; (9)

---

*एसोसिएट प्रोफेसर, समाज विज्ञान विभाग, महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय, कटनी (म.प्र.); ई–मेलः drspchauhan14@gmail.com; मोबाइल नं. : 7974899958

समष्टिवाद; (10) राजतन्त्र; (11) प्रजातन्त्र और (12) समाजवाद। इन विचारधाराओं के बीच समाज–व्यवस्था के नियमों और उपायों को लेकर विचारकों के बीच मतभेद होना स्वाभाविक है। सबसे अधिक मतभेद शासन की व्यवस्था को लेकर है क्योंकि समाज की संरचना में केन्द्रीय स्थान राज्य का ही होता है। इसलिए शासनतन्त्र की सर्वोत्तम प्रणाली कौन–सी हो ? इस प्रश्न को लेकर ही मतभेद भी अधिक होते हैं। आचार्य जी मतभिन्नता की स्वाभाविकता को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उनको लेकर विश्व में उत्पन्न हुए तीव्र संघर्षों की आलोचना करते हैं और उन्हें निरर्थक बताते हैं। उन्हीं के शब्दों में : ''उपायों और व्यवस्था नियमों की दृष्टि से वे सब भिन्न–भिन्न हैं, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो इन सबका लक्ष्य एक ही रहा है कि समाज में व्यक्ति सुखी रहें, सब लोग समान रूप से समुन्नति करें तथा कोई किसी के अधिकारों का वंचन न करे। भिन्न–भिन्न मार्गों से एक लक्ष्य तक पहुँचने की बात तो ठीक है, पर इन मार्गों को लेकर संसार में जो संघर्ष होते आये हैं वे ही लक्ष्य तक पहुँचने में प्रमुख रूप से बाधक बन जाते हैं''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 4.21)।

आचार्य जी ने उपर्युक्त समाज व्यवस्था के सिद्धान्तों में से अग्रलिखित मतों की समीक्षा की है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 1.30–1.33) :

1. उपयोगितावाद (Utilitarianism)

आचार्य जी सर्वप्रथम उपयोगितावाद को लेते हैं, जिसके जन्मदाता जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham : 1748-1832) थे। बेन्थम के अनुसार प्रकृति ने मानवजाति को दो स्वामियों सुख और दुःख की अधीनता में रखा है। सुख–दुःख हमें बताते हैं कि हम क्या करें और क्यों करें ? उपयोगिता का अर्थ किसी वस्तु के उस गुण या क्षमता की अभिव्यक्ति है जिससे कि वह कोई दुःख नहीं होने देती या कोई सुख पहुँचाती है। इसलिए वह सब जो व्यक्ति के लाभ या हित के अनुरूप है, उसके सुख की कुल मात्रा बढ़ा सकता है और समाज चूँकि व्यक्तियों से बना है, इसलिए समाज की सुख की कुल मात्रा भी बढ़ जाती है। इस प्रकार बेन्थम के अनुसार व्यक्ति वह व्यवहार करता है जिससे दुःख कम–से–कम हो और सुख अधिक–से–अधिक हो। अतः बेन्थम के समाजदर्शन को सुख और दुःख का गणित कहा जा सकता है। इसी कारण बेन्थम व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता के पक्षधर थे। आचार्य जी ने बेन्थम के निम्न शब्दों को उदधृत किया है : ''व्यापार पर राज्य की ओर से कम–से–कम प्रतिबन्ध होना चाहिए। देश की आर्थिक प्रगति की दृष्टि से स्वतन्त्र व्यावसायिक नीति कहीं अधिक श्रेयस्कर है''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 1.30)। बेन्थम उसी शिक्षा के पक्षधर थे जो जीवनोपयोगी हो तथा वे अपराधी को कठोर दण्ड देने के भी विरोधी थे क्योंकि वह अपराधी को सुधारता नहीं बिगाड़ता है। आचार्य जी उपयोगितावाद की आलोचना करते हुए लिखते हैं : ''इस पद्धति से पूँजीवाद को बढ़ावा मिलता है। राज्य का अंकुश न होने से व्यवसायी वर्ग शोषण और दमन की नीति अपनाता है। एक वर्ग धनवान होता जाता है और दूसरा अत्यन्त गरीब। दण्ड की कठोरता न होने से अपराधों को और भी अधिक प्रोत्साहन मिलता है। बेन्थम की सामाजिक नवनिर्माण के लिए दी गयी शासन की रूपरेखा स्वयं में अस्पष्ट है और उसमें सुनिश्चित आचार संहिता का अभाव है। कुछ विचारकों का मत है कि बेन्थम के सिद्धान्त व्यावहारिक कम हैं, सैद्धान्तिक अधिक''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 1.30)।

2. साम्यवाद (Communism)

इस सिद्धान्त के जन्मदाता कार्ल मार्क्स (Karl Marx : 1818-1883) हैं। कार्ल मार्क्स की मान्यता है कि अब तक का मानव जाति का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास है। आदिम काल को

छोड़कर, जब जीवन निर्वाह के साधनों पर कबीले का स्वामित्व होता था, अब तक का समाज दो भागों में विभाजित होता आया है। एक वर्ग वह जो उत्पादन के साधनों का स्वामी है और दूसरा वह सम्पत्ति–विहीन वर्ग जो मेहनत–मजदूरी से जीवन–यापन करता आया है। सम्पत्तिशाली वर्ग अपने ही हित में आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षिक नियमों और कानूनों की रचना करके सम्पत्तिहीन वर्ग का शोषण करता है। यह परिस्थिति धीरे–धीरे असह्य हो जाती है और वर्ग संघर्ष के द्वारा शोषित शोषकों का अन्त कर देते हैं। कार्ल मार्क्स बढ़ते हुए उद्योगवाद और पूँजीवाद के जन्म से ही साक्षी थे और उन्होंने पूँजीवाद की कठोर आलोचना की है। उन्होंने लिखा है कि बुर्जुवा अथवा पूँजीपति भी अपनी कब्र स्वयं खोद रहे हैं; वर्ग संघर्ष के द्वारा इनका भी अन्त होगा और सर्वहारा वर्ग श्रमिकों का अधिनायकवाद (तानाशाही) स्थापित होगा। आचार्य जी साम्यवाद के सम्बन्ध में लिखते हैं : "साम्यवाद का प्रमुख लक्ष्य है एक वर्ग विहीन समाज का नवनिर्माण करना। पूँजीवाद का अन्त करके राष्ट्रीय सम्पत्ति या साधनों को व्यक्ति के हाथों से छीनकर समाज के अधिकार में रखना। समस्त आर्थिक असमानताओं को दूर करके नवीन समाज व्यवस्था को जन्म देना, साम्यवाद के अनुसार राज्य का प्रमुख कार्य होगा।

भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त, यातायात के साधनों का राष्ट्रीयकरण, कानून द्वारा मुद्रा का नियन्त्रण, सम्पत्ति के अधिकारों का उन्मूलन, व्यापार तथा वाणिज्य का नियमन, हर प्रकार के एकाधिकार तथा विशेषाधिकार का अन्त करना"(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 1.30–1.33)। ये सभी कार्य सर्वहारा वर्ग की तानाशाही द्वारा किया जायेगा। कार्ल मार्क्स के अनुसार यह संक्रमणकालीन व्यवस्था होगी जिसे समाजवाद कहा जा सकता है। धीरे–धीरे वह अवस्था आ जायेगी जब राज्य विलीन हो जायेगा और प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेगा तथा आवश्यकता के अनुसार उसे समाज द्वारा मिलेगा। यही अन्तिम साम्यवादी व्यवस्था होगी।

मानवतावादी विचारक मार्क्स के विचारों से आचार्य जी सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार उद्देश्य ठीक होते हुए भी क्रान्ति की हिंसक पद्धति को साधन रूप प्रयोग करने से समाज में शान्ति और सुव्यवस्था कभी कायम नहीं रह सकती। साम्यवाद वैयक्तिक स्वतन्त्रता का गला घोटता है। आज विश्व के प्रमुख साम्यवादी गढ़ ढह चुके हैं और जहाँ कहीं साम्यवादी पार्टी का शासन भी है, शासक वर्ग महसूस करने लगा है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था की दिशा में कुछ परिवर्तन किये जाने आवश्यक हैं। आचार्य जी ने उचित ही लिखा है : "साम्यवादी विचारधारा उपयोगी होते हुए भी मनुष्य के अन्तरंग को विकसित करने के लिए कोई सुनिश्चित आधार नहीं देती। बाह्य परिस्थितियों का उपभोग, नियन्त्रण एवं सुनियोजन करने वाला तो मनुष्य ही है और जब तक मनुष्य का अन्तरंग पक्ष घटिया एवं हेय स्तर का बना रहेगा, सभ्य, शिष्ट और सुसंस्कृत समाज की कल्पना साकार नहीं हो सकती। मात्रा बाह्य अंकुश एवं परिवर्तन की बात सोचने से काम नहीं चलेगा। यह प्रक्रिया एकांगी होगी। साम्यवाद में मनुष्य के अन्तरंग को विकसित करने, श्रेष्ठ, उदार और उदात्त बनाने वाले तत्व नहीं हैं। जब तक मनुष्य का भीतरी पक्ष समुन्नत नहीं होता, शोषण, संग्रह और दमन की प्रक्रिया चलती रहेगी"(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 1.31)।

3. व्यक्तिवाद (Individualism)

इस परिकल्पना के प्रणेता थे जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill : 1806-1873) और हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer : 1820-1903)। इन विद्वानों के अनुसार जीवन, बुद्धि, विचार

आदि मनुष्य की विशेषताएँ हैं। इन्हीं विशेषताओं के सहारे समाज एवं राष्ट्र का प्रत्येक कार्य होता है। इस कारण व्यक्ति को सभी क्षेत्रों में सर्वोच्च स्थान मिलना चाहिए। व्यक्तिवादी दृष्टि में, सबसे अच्छी सरकार वह है जो कम– से–कम शासन करती है। राज्य का एकमात्र कर्तव्य यह होना चाहिए कि वह ऐसे वातावरण का निर्माण करे, जिसमें व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपने व्यक्तित्व, चरित्र, विचार और कार्यों का सुसंगठन एवं विकास कर सके ।

आचार्य जी की दृष्टि में व्यक्तिवादी विचारधारा आदर्शवादी एवं श्रेष्ठ होते हुए भी व्यावहारिक नहीं है। उन्हीं के शब्दों में : ''व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तभी उपयोगी एवं विकास में सहायक होती है, जबकि उस पर कठोर आत्म अंकुश हो। आत्म–नियन्त्रण के अभाव में तो अनुशासनहीनता एवं उच्छृंखलता को ही बढ़ावा मिलता है। अतैव जब मनुष्य का व्यक्तित्व इतना परिष्कृत एवं समुन्नत हो जाये कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के दुरुपयोग की गुंजाइश न रहे, तब तक एक सीमा तक बाह्य शासकीय नियन्त्रण बनाये रखना ही कहीं अधिक श्रेयस्कर है। .... अविकसित, अशिष्ट, समाज में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सदुपयोग कम दुरुपयोग अधिक होगा''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 1.31)।

4. अराजकतावाद (Anarchism)

अराजकतावादी प्रतिपादकों में प्रिन्स क्रोपाटकिन (Prince Kropotkin : 1842-1921) तथा माइकेल बकुनिन (Michael Bakunin : 1814-1876) प्रमुख हैं। अराजकतावादी मान्यता है कि राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है। पूँजीवाद का अन्त जब क्रान्ति द्वारा हो जायेगा तो उसके साथ–साथ राज्य का भी अन्त हो जायेगा। उनके अनुसार राज्य अहितकर और शोषक है। इसलिए उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। राज्यविहीन समाज में व्यवस्था कैसे होगी ? अराजकतावाद के अनुसार, प्रत्येक व्यवसाय, व्यापार तथा विविध कार्यों के संचालन के लिए उसमें लगे हुए व्यक्तियों की एक समिति अथवा संघ होगा, जिनको 'कम्यून' कहा जायेगा। इस प्रकार शिक्षा, उत्पादन, उद्योग व्यवसाय आदि विभिन्न कार्यों में लगे व्यक्ति अपने–अपने कम्यून स्थापित करेंगे। कम्यून ऐच्छिक तथा पूर्ण स्वतन्त्र होंगे। प्रत्येक कम्यून स्वयं पदाधिकारियों का चुनाव करे और अपनी नीति निर्धारण करे। एक ही विषय के जिले भर के कम्यूनों को मिलाकर इस विषय की जिला समिति बनेगी। जिला समितियों से प्रान्तीय समिति तथा प्रान्तीय समितियाँ राष्ट्रीय समिति के लिए प्रतिनिधि भेजेंगी। इस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर एक राज्य द्वारा किये जाने वाले सभी कार्यों को ये समितियाँ बाँट लेंगी। आचार्य जी की दृष्टि में यह आदर्शवादी एवं अव्यावहारिक विचार दर्शन है। इसलिए आचार्य जी ने इसकी विस्तृत व्याख्या अथवा आलोचना नहीं की है। यह व्यक्तियों के परिमार्जन करने से पूर्व ही उन्हें अपरिमित अधिकार और दायित्व सौंपना चाहता है।

5. सामाजिक अनुबन्धवाद (Social Contractualism)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में हॉब्स (Thomas Hobbes : 1588-1679) जान लॉक (John Locke : 1632-1704) तथा रूसो (Rousseau J.J. : 1712-1778) हैं। आचार्य जी ने इनके विचारों के विषय में लिखा है : ''सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त के अनुसार मानवीय विकास की आरम्भिक अवस्था में लोग प्राकृतिक अवस्था में रहते थे। राज्य नाम की कोई संस्था न थी। कालान्तर में समस्याओं एवं असुविधाओं के बढ़ने से राज्य की आवश्यकता अनुभव की गयी तथा राजा एवं प्रजा के बीच एक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप राजा को शासन–प्रबन्ध करने का अधिकार मिला। राजा प्रजा की सम्मति एवं स्वीकृति से ही शासन करता है। यदि वह अनुबन्धों को तोड़ता व

अपने दयित्वों का निर्वाह नहीं करता तो प्रजा को अधिकार है कि उसे पदच्युत करके दूसरा शासक नियुक्त करे''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 1.32)। आधुनिक समाज वैज्ञानिक सामाजिक अनुबन्धवादियों की इस मान्यता से सहमत नहीं है कि राज्य का उदय राजा और प्रजा के बीच किसी अनुबन्ध से हुआ होगा। समाज की अन्य संस्थाओं की भाँति किसी–न–किसी रूप में शासन के नियम भी समाज के अस्तित्व की मूलभूत आवश्यकता से ही निसृत हैं और समाज के साथ–साथ ही उनका विकास हुआ है तथापि आचार्य जी के अनुसार प्रजातन्त्र प्रणाली का प्रादुर्भाव सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त से हुआ है।

6. प्रजातन्त्र (Democracy)

आज संसार में सर्वाधिक प्रचलित शासन–प्रणाली प्रजातन्त्र है और वही सर्वाधिक सफल भी है। इस प्रणाली के अनुसार समाज की संप्रभुता और सर्वोच्च सत्ता प्रजा में ही निहित है। चुनाव प्रणाली द्वारा नियत अवधि के लिए प्रजा अपने प्रतिनिधियों का चयन करती है। वे प्रतिनिधि ही शासन की प्रक्रिया चलाते हैं और जनता के प्रति जवाबदेह होते हैं। प्रजातन्त्र की सफलता की अनिवार्य शर्त है कि सम्बन्धित समाज के जनसाधारण सजग और नीतिवान हों। वे अपने सामाजिक और नैतिक दायित्वों के प्रति जागरूक हों। जनता का जैसा स्तर होगा वैसे ही व्यक्ति प्रतिनिधि के रूप में चुने जायेंगे। यदि जनता का स्तर बौद्धिक एवं नैतिक दृष्टि से ऊँचा न हुआ तो चुने गये व्यक्ति भी सौंपे गये दायित्वों का निर्वहन न कर सकेंगे। उल्टे अव्यवस्था ही पैदा करेंगे। आचार्य जी ने लिखा है : ''यदि प्रजातन्त्र को सफल बनाना है तो जनता का स्तर ऊपर उठाने के लिए ठोस प्रयत्न करने होंगे और सत्ता ऐसे दूरदर्शी व्यक्तियों के हाथों सौंपनी होगी जो संकीर्ण स्वार्थपरता की सीमा से उपर उठ चुके हों, प्रामाणिक, चरित्रवान हों''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 1.31)।

आचार्य जी के अनुसार वर्तमान प्रजातान्त्रिक प्रणाली जटिल और दोषपूर्ण है और शासनतन्त्र में जनप्रतिनिधियों और अधिकारियों को भ्रष्टाचार फैलाने का अवसर प्रदान करती है। उन्हीं के शब्दों में : ''शासनतन्त्र की वर्तमान प्रजातन्त्र पद्धति कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की कार्यविधियाँ इतनी लम्बी एवं पेचिदा हैं कि उसमें जनसाधारण को छोटे–छोटे कामों के लिए देर तक प्रतीक्षा करनी होती है। इस सन्दर्भ में सरलता उत्पन्न करने के लिए नये सिरे से निर्धारण होने की आवष्यकता है। कर लगाने एवं वसूल करने की पद्धति भी ऐसी होनी चाहिए कि किसी को अनुचित लाभ उठाने का अवसर न मिल सके''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 1.31)।

7. आदर्शवाद **(Idealism)**

आदर्श व्यवस्था के जन्मदाता प्रसिद्ध दार्शनिक 'प्लेटो' (Plato : 427-347 B.C.) हैं। आचार्य जी प्लेटो को उदृधत करते हुए लिखते हैं : ''मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है। हम अपनी स्वाभाविक मनोवृत्तियों से प्रेरित होकर राज्य को मान्यता देते हैं। राज्य का सच्चा स्वरूप यही है कि वह एक नैतिक संस्था हो। हमारी आत्मोन्नति में सहयोग करना ही उसका कार्य है। राज्य मनुष्यता को पूर्णता की ओर ले जाने में बाह्य परिस्थितियों का निर्माण एवं सुनियोजन करता है। अतएव वह श्रद्धा का पात्र है''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 1.32)। आचार्य जी के अनुसार, ''प्लेटो की परिकल्पना दार्शनिक अधिक, व्यावहारिक कम है। यह शासनतन्त्र, सुनिश्चित प्रणाली एवं आचार संहिता का निर्धारण नहीं करती। अस्तु,

आदर्शवाद के सिद्धान्तों से शासन प्रणाली के निर्धारण में सुनिश्चित दिशाधारा नहीं मिलती''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 1.32)।

8. गाँधीवाद (Gandhism)

भारत के राष्ट्रपिता मोहनदास कर्मचन्द गाँधी (M.K. Gandhi : 1869-1948) इस विचारधारा के जन्मदाता हैं। गाँधी जी की दृष्टि में राज्य अपने को स्वयं साध्य न मानकर, जनता के सर्वांगीण विकास का एक साधन मात्र बनकर अपनी नीतियों का निर्धारण उसके अनुरूप करे, उसके पथ–प्रदर्शक सिद्धान्त अहिंसा पर अवलम्बित हों। यह अपनी शक्ति का प्रयोग कम–से–कम करे और जनता को अधिक–से–अधिक आत्मनिर्भर बनाने का सुअवसर दे। इसलिए गाँधी जी 'स्वराज्य' के पक्षधर हैं, जिसके मार्गदर्शक सिद्धान्त अधिक–से–अधिक विकेन्द्रीकरण तथा लघु उद्योग–धन्धे हैं; उसके केन्द्र में राज्यशक्ति नहीं, लोकशक्ति है। सादा जीवन उच्च विचार ही सर्वोच्च मूल्य है। प्रत्येक गाँव एक गणतन्त्र होना चाहिए। धनिक वर्ग को स्वयं को धन का ट्रस्टी समझना चाहिए और अपनी आवश्यकताओं से अधिक धन को जनता के कल्याण के लिए लगा देना चाहिए। गाँधी जी की विचारधारा को सर्वोदय कहा जाता है, जिसको उनके परम शिष्य विनोबा भावे ने आगे बढ़ाया। स्वतन्त्र भारत के नेतृत्व ने आधुनिकता का मॉडल अपनाया तथा नियोजित औद्योगिकीकरण द्वारा प्रगति करने का प्रयास किया। वह गाँधी जी की विचारधारा से सर्वथा विपरीत था।

आचार्य जी समाज व्यवस्था के उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों का सर्वेक्षण और समीक्षा करने के बाद इन सबसे ऊपर उठते हुए भारत के आदर्श दृष्टिकोण से सहमति जताते हैं। उन्हीं के शब्दों में : ''इन समस्त मतवादों से अलग रहते हुए भारतीय संस्कृति ने आदर्श समाज का जो स्वस्थ स्वरूप रखा है, वह हजारों साल पुराना होने के बाद भी आज भी इतना नवीन है कि विभिन्न मतवादों के बीच होते रहने वाले संघर्षों को देखकर आशा की दृष्टि वहीं जाकर टिकती है। वैदिक विचारधारा किसी समुदाय विशेष की हित–कामना को ही प्रधानता न देते हुए विश्वभर के कल्याण की कामना करती है तथा एक–दूसरे का परस्पर सहयोग द्वारा हित–साधन का उपदेश देती है''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 4.21–4.22)। प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति के दो सूत्र–'आत्मवत् सर्वभूतेषू' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सामाजिक व्यवस्था के मूलमन्त्र रहे हैं। आचार्य जी ने लिखा है : ''प्राचीन काल में अपने यहाँ की व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ थी। हर व्यक्ति औसत दर्जे के जीवन–यापन को धर्म कर्तव्य मानता था। अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के बाद जो धन शेष बचता था उसे स्वेच्छापूर्वक हर व्यक्ति दान के रूप में समाज को लौटा देता था। जो संग्रह करता था उसे सामाजिक घृणा और तिरस्कार का भाजन बनना पड़ता था। आज की भाँति सम्पन्नों को सम्मान देने की ओछी एवं विकृत मनोवृत्ति न थी। दान की प्रतिस्पर्धा चला करती थी। जो समाज के प्रति सहिष्णु और उदार होता था, उसे ही सम्मानित किया जाता था। संग्रह एवं उपभोग पर सामाजिक एवं नैतिक अंकुश रहने से सभी इसे हेय मानते थे। ऐसी स्वप्रेरित उदारता एवं आत्म–अंकुश बना रहे तो किसी भी प्रकार के बाह्य प्रतिबन्ध की आवश्यकता न पड़े''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 1.34)। वस्तुतः आचार्य जी के अनुसार समाज व्यवस्था प्रकृति के नियमों के अनुकूल ही होनी चाहिए। समाज का निर्माण ही व्यक्ति की सामाजिकता और सामूहिकता में है। पारस्परिक सहयोग ही उसका मूल स्रोत है। विकास सहयोग से ही होता है। पारस्परिक सहयोग की ईंटों से ही समाज व्यवस्था के भवन का निर्माण होता है। आचार्य जी के शब्दों में : ''सृष्टि में जहां भी दृष्टि दौड़ाते हैं, संघर्ष का नहीं सहयोग का ही अस्तित्व नजर आता है। संघर्ष

से तो अराजकता, अव्यवस्था फैलती है और विकसित जातियाँ भी पतन के गर्त में मिल जाती हैं''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 5.33)।

इसी सन्दर्भ में आचार्य जी ने चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin : 1809-1882) के विचारों का भी वर्णन किया है जो एक अंग्रेज प्रकृति विज्ञानी थे। डार्विन प्राकृतिक वरण द्वारा जीवों और वनस्पतियों की प्रजातियों की उत्पत्ति के उदविकास–सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जीवों की प्रजातियों का विकास जीवन के लिए संघर्ष के माध्यम से हुआ और वे प्रजातियाँ ही उत्तरजीवी अर्थात अपना अस्तित्व बनाये रखने में सफल हुईं, जो सर्वयोग्य थीं। आचार्य जी के मतानुसार विद्वानों ने डार्विन के जीवन के लिए संघर्ष के सिद्धान्त को बहुत संकुचित अर्थ में लिया, जबकि डार्विन ने स्वयं लिखा है कि 'प्राणियों का अस्तित्व एक–दूसरे के ऊपर निर्भर है।' आचार्य जी के अनुसार संघर्ष का व्यापक अर्थ है कि विभिन्न प्राणी एवं मनुष्य मजबूत एवं समर्थ बनें। यह तथ्य स्थूल कम सूक्ष्म अधिक है। तात्पर्य व्यक्ति से नहीं परिस्थिति से है। आचार्य जी ने अपने दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए स्वयं डार्विन को उदधृत किया है। डार्विन ने लिखा है : ''विकास के क्रम में असंख्य प्राणी समूहों में पृथक–पृथक प्राणियों का आपसी संघर्ष मिट जाता है, संघर्ष का स्थान सहयोग ले लेता है और इसके फलस्वरूप उनका बौद्धिक एवं नैतिक विकास होता है। इस विकास से ही उन प्राणियों का अस्तित्व बने रहने के लिए अत्यन्त अनुकूल अवस्था पैदा होती है''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 5.34)। डार्विन अपने 'योग्यतम की उत्तरजीविता' के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखते हैं : ''ऐसे समुदायों (विकसित प्राणियों में, जैसे मनुष्य) में योग्यतम वे नहीं कहे जाते जो सबसे अधिक बलवान या चालाक हैं, वरन् समर्थ वे हैं जो अपने समाज के हित के लिए निर्बल एवं बलवान सभी की शक्ति को इस तरह संगठित करना जानते हों कि वे एक–दूसरे के पोषक हों''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 5.34)।

इस भाँति, आचार्य जी सामाजिक व्यवस्था के लिए परस्पर सहयोग, परस्पर हितों का समन्वय और सन्तुलन को निर्देशन नियम बताते हैं और लिखते हैं कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखते हुए सभी को विकास के पर्याप्त अवसर मिलें।

टिप्पणी:

1. समाजषास्त्र में पहले तरीके को अर्थात् इकाई से समग्र की ओर उपागम को Micro Sociology कहा गया है और जहाँ समग्र से इकाई की ओर उपागम हो उसे Macro Sociology कहा गया है। इनके अर्थ और विषेशताओं के लिए (देखें: अब्राहम, एम. फ्रांसिस: 1992; मार्टिनडेल, डॉन: 1960)

2. प्रायः मानवषस्त्रियों ने जनजातियों की सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिए सामाजिक संगठन की अवधारणा का प्रयोग किया है। (देखें: बेनेडिक्ट, रूथ: 1960)

संदर्भ ग्रंथ सूची

अब्राहम, एम. फ्रांसिस 1992 : *माडर्न सोशियोलोजिकल थ्यौरी :एन इंट्रोडक्शन,* नई दिल्ली: आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस

मार्टिनडेल, डॉन 1960: *द नेचर एण्ड टाइप्स ऑफ सोशियोलॉजी,* बोस्टन: हॉटन मैफिन कं0।

बेनेडिक्ट, रूथ 1960: *पैटर्नस ऑफ कल्चर,* न्युयार्क: मेन्टर बुक्स।

पारसंस, टालकट 1972: *द सोशल सिस्टम,* नई दिल्ली: अमेरिन्द पब्लिशिंग कं0।

मुर्डोक, जार्ज पीटर 1949: *सोशल स्ट्रकचर,* न्युयार्क: मैकमिलन।

बीयरस्टेड, राबर्ट 1970: *द सोशल आर्डर,* नई दिल्ली: टाटा मैक्ग्रा हिल पब्लिशिंग कं0 लि0।

फेयरचाइल्ड, हेनरी प्रैट 1962: *डिक्षनरी ऑफ सोषियोलॉजी,* न्यु जर्सी: एडम एण्ड कं0,इंक।

हरिकृष्ण रावत, 2006: *उच्चतर समाजशास्त्र विश्वकोश,* जयपुर : रावत पब्लिकेशन्स।

ब्रह्मवर्चस (सं॰), 1998: पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय, *भव्य समाज का अभिनव निर्माण,* (खण्ड सं॰ 46), मथुरा : अखण्ड ज्योति संस्थान,

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna2016
वर्ष 2 अंक 1–2, 2016, पृ. 44–60

जाति और जाति विनाश पर डा० अम्बेडकर का दर्शन, उनकी विरासत और जाति विनाश का समसामयिक यथार्थ

हरनाम सिंह वर्मा*

इस प्रपत्र में जाति और जाति विनाश विषय पर डा० अम्बेडकर के दर्शन, इन बिन्दुओं पर उनकी विरासत और उसके समसामयिक यथार्थ के चार पहलुओं पर चर्चा की जायेगीं।

1. डा० अम्बेडकर के पूरे लेखन, भाषणों और 40 वर्षो के सार्वजनिक जीवन के संघर्षों से क्या प्रमुख बिन्दु उभरते हैं?

2. क्या जाति विनाश प्रश्न पर डा० अम्बेडकर और डा० लोहिया की रणनीतियाँ धुर विरोधी न हो कर वास्तव में जाति विनाश की रणनीति के दो चरणों की रणनीतियों थी?

3. जाति विनाश की रणनीति को डा० अम्बेडकर के समर्थकों, विशेषकर कांशीराम और मायावती, ने क्या मूर्तरुप दिया है और उसकी कुछ समीक्षकों द्वारा 'विलक्षणता' के तमगे का साजाजिक–राजनैतिक धरातल पर असली रुप क्या है?

4. 2012 में जाति विनाश का क्या समसामयिक यथार्थ उभर कर आया है?

एक

डा० अम्बेडकर का जाति और जाति विनाश दर्शन

बाबा साहेब अम्बेडकर एक प्रकाण्ड विद्वान थे। लेखन, भाषाणों और राजनैतिक संघर्षों की संख्या, विषय वस्तु का विस्तार, प्रस्तुतीकरण की मौलिकता, उसकी गहराई, और तार्किकता, और विश्लेषित समस्याओं के दिये गए निदानों में साफ झलकता है। डा० अम्बेडकर का दर्शन चार मुख्य स्रोतों से प्राप्य है।

1. उनके घनिष्ट सहयोगी डा० भगवानदास (2000) ने चार खंडों में इसे प्रकाशित किया है।

2. प्रो० वैलेरियन रॉडरिग्यूस (2007) ने उसे "दि ऐसेन्शियल राइटिन्गस आफ डा० अम्बेडकर" की टाइटिल के अर्तगत संकलित किया है।

3. महाराष्ट्र शासन ने 27 खन्डों की डा० अम्बेडकर के दर्शन की एक संकलित श्रृंखला प्रकाशित की है।

---

*प्रोफेसर हरनाम सिंह वर्मा, अवकाश प्राप्त वरिष्ठ समाजशास्त्री–योजनाकार[1]

4. कुछ कृतियाँ स्वतंत्र रुप प्रकाशित है।

5. इनमे से सबसे वश्हद और महत्वाकाँक्षी प्रयास महाराष्ट्र शासन का है। कुल मिलाकर जो कुछ सामने आता है उससे साफ है कि यह इतना बड़ा कृतत्व है, जो मात्र अमूल्य और अतुलनीय ही नहीं है, बल्कि इसके बराबर की विद्वता किसी एक विद्वान ने पिछली एक शताब्दी से अधिक के समय में नहीं प्रदर्शित की।

महाराष्ट्र शासन द्वारा प्रकाशित बाबा साहेब अम्बेडकर के 27 खंडो मे से पाँच खंड (1, 3, 4, 5 और 7) जाति से प्रत्यक्ष या परोक्ष रुप से सम्बन्धित हैं। इनमें से प्रथम खंड 1916 में उनके द्वारा कोलम्बिया विश्वविद्यालय की ऐे संगोष्ठी के लिए प्रस्तुत "भारत में जातियाँ, उनकी व्यवस्था, आर्विभाव और विकास" सबसे पहली रचना है। खंड 3 और चार हिन्दू धर्म के विभिन्न पहलुओं पर हैं। खंड 3 के तीन लेख (9. बौद्ध धर्म का विकास और पतन, 16 शूद्र और प्रति–क्रांति, और 17, महिलाएँ और प्रति–क्रांति) जाति व्यवस्था पर परोक्ष रुप से प्रकाश डालते हैं। खंड 4 का एक लेख (23. मनु का दीवानापन या ब्राह्मणों द्वारा मिली जुली जातियों का विवेचन) जाति से सम्बन्धित है। खंड 5 पूरा का पूरा अछूतों से ही सम्बन्धित है और उसके चार लेख (27. हिन्दुओं से अलग ;धर्म परिवर्तन), 28. जातियाँ और धर्म परिवर्तन, 29. अछूतों का ईसाईकरण, और 30. धर्म बदलने वालों की स्थिति) बाबा साहेब के जाति विनाश के लिए दिये गये उपायों से सम्बन्धित हैं। खंड 7 शूद्र कौन थे? वह हिन्दू–आर्य समाज में चौथा वर्ण कैसे बने?, विश्लेषित करता है। इसके अतिरिक्त खंड 9 के दोनों भाग (अ) काँग्रेस और गाँधी ने अछूतों के साथ क्या किया? और (ब) काँग्रेस और गाँधी और अछूतों का उद्धार विषय पर हैं। खंड 12 के तीन लेख (19. मनु और शूद्र, 20. सामाजिक व्यवस्था को स्थाई बनाये रखना, ओर 24. कौन ज्यादा खराब है? गुलामी या छुआछूत) जाति व्यवस्था से सम्बद्ध हैं। खंड 14 "बाबा साहेब और हिन्दू कोड बिल" पर है जो कि हिन्दुओं की कई कुरीतियों को दूर करने के लिए लाया गया था और जो काँग्रेसी चरम पंथियों के गहरे दबाव के कारण नेहरु सरकार ने वापस लिया। खंड 17 "डा० अम्बेडकर और उनकी सुधारवादी क्रान्ति" का दस्तावेज है और उनके द्वारा भारतीय समाज को सुधारने सम्बन्धी दिये गए और किये गए प्रयासों पर प्रकाश डालता है।

महाराष्ट्र शासन द्वारा प्रकाशित 27 खंडो के अतिरिक्त डा० अम्बेडकर के दो अन्य उपलब्ध प्रकाशन भी जाति व्यवस्था और उसके विनाश से ही सम्बन्धित हैं। इनमें 1936 में प्रकाशित बाबा साहेब अम्बेडकर द्वारा जाति पाति तोड़क मंडल के प्रस्तावित लाहौर सम्मेलन हेतु लिखित अध्यक्षीय भाषण "जाति विनाश", जिसे अन्ततः डा० अम्बेडकर ने मंडल द्वारा सम्बोधन के कुछ अंशों को निकाल देने की शर्त न मानते हुए नहीं दिया, सबसे ज्यादा प्रसिद्ध है। उनकी एक अन्य प्रकाशित कृति है, "अछूतो का उद्धार" (मुंबई, थैर्कस, 1943)। इन दो में से सबसे ज्यादा विवाद "जाति विनाश" पर हुआ है और उस पर एक गहरी नजर डालना आवश्यक है। इस कृति का संपादित प्रारुप अब इन्टरनेट पर भी उपलब्ध है। इसे कोलम्बिया विश्वविद्यालय की फ्रँासिस डब्लयू प्रिचेट ने क्लासरुम उपयोग के लिए विभिन्न शीर्षकों के साथ संकलित किया है। इसे 26 सेक्शनों तथा दो अनुसूचियों में वर्गीकृत किया गया है। इसके विभिन्न सेक्शन तालिका 1 में अंकित हैं।

तालिका 1 : जाति का विनाश	
सेक्शन	उप–विषय
एक	बाबा साहेब का तर्क कि वह जाति पाति तोड़क मंडल के संभावित अध्यक्ष क्यों नहीं हो सकते थे?
दो	सामाजिक सुधार राजनैतिक सुधारों के लिये क्यों जरुरी हैं?
तीन	सामाजिक सुधार आर्थिक सुधारों के लिये क्यों जरुरी हैं?
चार	जाति मात्र श्रम का विभाजन नहीं है, वह श्रमिकों का विभाजन है।
पाँच	जाति एक अविद्यमान "नस्लीय शुद्धता (रेसियल प्योरिटी) को नहीं बचा कर रख सकती।
छ	जाति हिन्दुओं को एक वास्तविक समाज या राष्ट्र बनाने से रोकती है।
सात	जाति व्यवस्था की सबसे खराब बात उसकी असामाजिक वृत्ति (insprit) है।
आठ	जाति आदिवासियों (ape originals) के विकास और समाज में समावेशित करने से रोकती है।
नौ	उच्च जातियों ने साजिश के तहत् निचली जातियों को दबा कर रखा है।
दस	जाति व्यवस्था हिन्दू धर्म को एक मिशनरी धर्म बनने से रोकती है।
गयारह	जाति हिन्दुओं को पारस्परिक सहायता, विश्वास और सौहार्दता देने से रोकती है।
बारह	जाति सभी सुधारों को रोकने का एक शक्तिशाली हथियार है।
तेरह	जाति सार्वजनिक सोच, सार्वजनिक मत, और सार्वजनिक कार्य कलापों को समाप्त करती है
चौदह	मेरा ध्येयः एक स्वतंत्रता, समानता और सौहार्द पर आधारित समाज
पंन्द्रह	आर्य समाजियों का चर्तुवर्ण क्या पुराने जाति चस्पों को जीवित रखता है।
सोलह	चर्तुवर्ण को व्यवहार में लाने में असंभव परेशनियों का सामना करना पड़ेगा।
सत्रह	शूद्रों के लिए चर्तुवर्ण बड़ी विकट प्रणाली होगी।
अठारह	चर्तुवर्ण कोई नयी चीज नहीं है, वह इतनी पुरानी है जितने कि वेद।
उन्नीस	हिन्दुओं में जाति वैसी नहीं है जैसे कि वह गैर–हिन्दुओं में है।
बीस	जाति के विनाश की असली कुँजी शास्त्रों को नकारने में है।
इक्कीस	जाति में अंदरुनी सुधार करना लगभग असंभव है।
बाइस	अभी तक कोई सुधार और तार्किकता की अपीलें सफल नहीं हुई हैं।
तेईस	जाति के विनाश से धर्म के सच्चे सिद्धान्तों का विनाश नहीं होगा।
चौबीस	एक सच्ची धर्मगुरु पद्धति (Priesthood) गुणों पर आधारित होनी चाहिए, न कि वंशानुक्रम के आधार पर।
पच्चीस	यदि हिन्दू समाज का विकास होना है, उसके रीति–रिवाजों को विकसित होते रहना होगा
छब्बीस	संघर्ष करना आपका काम है, मैने हिन्दू धर्म छोड़ने का निश्चय कर लिया है।
अनुसूची–एक	
गाँधी का हरिजन में प्रकाशित 'ए विन्डीकेशन आफ कास्ट' (अक्षरशः रुप में)	
अनुसूची–दो	
बाबा साहेब अम्बेडकर द्वारा गाँधी के लेख में उल्लेखित सभी बिन्दुवार उत्तर	

डा० अम्बेडकर के दर्शन को मात्र उनके लेखन और भाषणों से ही आँकना उनके साथ बड़ा अन्याय होगा। वह एक मानवसमाज शास्त्री, अर्थशास्त्री, विधि/संविधान वेता के अलावा अछूत समाज के ऐसे नेता थे, जिसने दलित अस्मिता को जगाने, पल्लवित और जुझारु रुप में प्रदर्शित करने, उन्हें अपने पाँव पर खड़े होने, संगठित, शिक्षित होकर, संघर्ष करने और कौशल विकसित कर अपने भविष्य को सुरक्षित करने का मार्गदर्शन किया। इस दृष्टि से उनके लेखन से ज्यादा उनके 40 वर्षो से अधिक के सार्वजनिक जीवन में दलितों के लिए जो संघर्ष उन्होंने किया उसने अपने में बहुत बड़ी विचारधारा का निर्माण किया है। इसलिए उसे भी आकलन में दृष्टिगत रखना वाँछित है।

डा० अम्बेडकर ने दलित अस्मिता की लड़ाई को एक सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक रणक्षेत्र में परिवर्तित किया और उन्होंने उनके सशक्तीकरण के चारों चरणों (राहत, संघर्ष, सुधार और पुर्ननिर्माण) में महती भूमिका निभाई। उन्होंने यह जान लिया था कि जाति व्यवस्था को एक ऐसा धार्मिक वैचारिक जामा पहनाया गया हैं जिससे उस पर उंगली न उठाई जा सके। इसीलिए उसका आधार कभी वेद, शास्त्र, उपनिषद् और कभी अन्य धर्म ग्रन्थ बताये गये। डा० अम्बेडकर ने अपने पूरे लेखन, भाषणों और राजनैतिक संघर्ष में जाति के इस ब्राह्मण वादी अमानवीकरण को अपनी तार्किकता से पूर्ण रुप से विखन्ड़ित किया, दलितों की वर्तमान स्थिति को एक स्वाभिमानी चोला पहनाया, अशुद्धता के संकेतकों को स्वाभिमानी सकारात्मक रुप दिया, और उनके हारे और कुचले दलित इतिहास को एक जुझारु इतिहास का रुप दिया। उनके प्रयासों को दलित संघर्ष के कार्यक्रमों के संयोजन, इतिहास, साहित्य, राजनीति, लिंग सम्बधों, संस्कृति और पठन–पाठन में अभिव्यक्ति मिली और देश के समाज, अर्थतंत्र और राजतंत्र में उसका व्यापक प्रभाव देखा गया। गाँधी के साथ विश्व के फलक पर भी वह एक ऐसे महान व्यक्तित्व के रुप में उभरे, जिसे लम्बे समय तक याद किया जाता रहेगा।

डा० अम्बेडकरः एक मानव समाज शास्त्री के रुप में

मानव समाज शस्त्रियों का एक बड़ा धड़ा औपिनिवेशक और ब्राह्मणवादी सोच से ग्रस्त रहा है। इसके चलते उनमें से लुई डड्माँ (1970) ने "होमोहाईआरकिकस में तो जाति और वर्ण व्यवस्था में श्रेणीकरण की ढेर सारी अच्छाइयाँ और विशेषताएँ ढूँढ निकाली। कालान्तर में भी कैलाश नाथ शर्मा (1990) और विजय गायकवाड़ (1990, 1991ए) ने भी यही स्थापित करने का काम किया। अक्षय कुमार शरण ने तो हिन्दू व्यवस्थाओं और परम्पराओं को तो 'अपरिवर्तनीय' तक भी कह डाला (कृष्ण प्रकाश गुप्त 1974, 1978)। इसी प्रकार के समाज में परिवर्तन विश्लेषित करते समय मैसूर श्रीनिवास (1962, 1965, 1992) ने स्वयं को संस्कृतिकरण में तथा–कथित निचली जातियों द्वारा ऊँची जातियों के रीति रिवाज को अपनाने की प्रवृति पर ही केन्द्रित रखा, और ऐसा परिवर्तन जो ऊँची जातियों द्वारा निचली जातियों के रीति रिवाज या पेशे अपनाने (जैसा कि प्रो० श्याम लाल ने राजस्थान में कुछ ब्राह्मणों द्वारा मैला उठाने का पेशा अपनाने या प्रेमा कुरियन (2002) ने केरल के इझवा समुदाय के नवनिर्मित रिवाजों को नैय्यर समाज द्वारा अपनाने के अपने अलग–अलग चर्चित अध्ययनों ने दिखाया) को लगभग उपेक्षित ही रखा। नीता वर्मा (2005) और हरनाम सिंह वर्मा और अरुण कुमार सिंह (2005) ने अकाट्य् प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि आरक्षण के विषय पर इंदिरा साहनी वाद (1992) तथा 2004 के केन्द्रीय शिक्षण संस्थानों में पिछड़ी जातियों वर्गो के छात्रों को प्रवेश में आरक्षणवाद में ऊँची जातियों के लगभग पूरे के पूरे समाज विज्ञानियों, समाचार और संचार माध्यमों में एकछत्र राज कर

रहे कर्मियों ने झूठ, धोखाधड़ी और गलत–बयानीं कर पिछड़े वर्गो, दलितों और आदिवासियों के साथ बेईमानी की। यहाँ तक कि उच्च न्याय पालिका ने भी आरक्षण के बिन्दु पर "डाकिट्रन आफ स्ट्रेयर डिसीसिस" (कन्टीन्वीटी, कनिससटेन्सी और सरटेन्टी) का पालन नहीं किया। (वर्मा 2005)। यह डा० अम्बेडकर की राजनैतिक सीख का ही प्रभाव था कि उनके अनुयायियों ने यह लड़ाई अपने पैर खड़े हो कर बार और न्याय पालिका में नगण्य प्रतिनिधित्व होने के बावजूद अपने कौशल से जीती।

ऊँची जातियों से सम्बन्ध रखने वाले मानव/समाज शास्त्रियों से बिल्कुल अलग डा० अम्बेडकर का पूरा जाति और जाति विनाश दर्शन तार्किकता और दलितों के स्वयं के झेले हुए अनुभवों पर आधारित है। उसका सच अन्य प्रमाणों की जरुरत नहीं रखता। इसके अतिरिक्त डा० अम्बेडकर के जाति और जाति विनाश दर्शन की उपादेयता इस लिये भी अतुलनीय है क्योंकि उसने भारतीय समाज में व्यवस्था परिवर्तन करने की नींव रखी और इसके लिए आधारभूत कदम उठाने की बात की।

डा० अम्बेडकरः कृतृत्व की सीमाएँ

गाँधी की तरह डा० अम्बेडकर भी एक प्रयोगधर्मी व्यक्तित्व थे और अपनी धुन के पक्के थे। उन्होंने स्वयं कहा कि आदिवासी, अन्य पिछड़े वर्ग, अल्पसंख्यक और महिलाएँ दलितों की तरह पीड़ित और सताये हुए हैं, लेकिन अपने लम्बे राजनैतिक संघर्ष में उन्होंने इन सभी को एक मंच पर लाने के डा० लोहिया और राम स्वरुप वर्मा, आदि के प्रस्तावों का ज्यादा गंभीरता से नहीं लिया। आलोचकों की माने तो काँग्रेस ने उनकी इस राजनैतिक स्थिति का पूरा लाभ लेते हुए उनसे चूहे–बिल्ली का खेल खेला और उनके राजनैतिक जीवन को हिन्दू कोड बिल और पहले संसदीय चुनावों में जोरदार झटका दिया।

उन्होंने जाति विनाश के लिए अंर्तजातीय विवाह और धर्म परिवर्तन की वकालत की। उन्होंने स्वयं बौद्ध धर्म अपनाया, लेकिन दलितों का बौद्ध धर्म या ईसाई धर्म ग्रहण करना, उनके दलित लबादे को न धो सका। उन्हें स्वयं धर्मान्तरण के दूसरे दिन ही अपने दलित अनुयायिओं को यह कहना पड़ा कि आरक्षण मिलता रहेगा। बौद्ध धर्म मे धर्मान्तरित दलित 1990 में ही यह आरक्षण पा सके और ईसाई बने दलित इसे पाने के लिये अभी भी बाट जोह रहें हैं।

1950 में ही संविधान सभा को निर्मित संविधान प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था कि यह संविधान राजनैतिक समानता को तो प्रदान कर रहा है लेकिन सामाजिक और आर्थिक समानता लाना इससे सुलभ नहीं है। संविधान लागू हुए 62 वर्ष बीत गए हैं और यह विरोधाभास आज भी यथावत् है। उन्होंने दलितों को एकजुट होने का संकल्प दिलाया था। उनके अनुयायी इस पर खरे नहीं उतरे। उनमें आपस में ही संघर्ष हो रहा है। उनके परिश्रम के कारण दलितों का एक उपवर्ग जो उठ कर ऊपर आया था, वह अपने पीछे छूट गये दलितों से सांस्कृतिक रुप से कट गया था और उनकी स्थिति को सुधारने के उनके भगीरथ प्रयत्न में अपेक्षित साझीदारी नहीं कर रहा था। समाज के अन्य सभी शोषित उप वर्ग (आदिवासी, अन्य पिछड़ा वर्ग, अल्पसंख्यक, महिलाएँ) और दलित अपनी–अपनी संशक्तीकरण की लड़ाई एक साथ नहीं, अलग अलग और भिन्न–भिन्न तरीके से लड़ रहे थे, जिससे शासक वर्ग बड़ी आसानी से निबट रहा था (क्रिस्टाफ जफरलाटः 2003) डा० अम्बेडकर अपने जीवन के अन्तिम वर्षो में इस स्थिति से बहुत निराश थे। 1954–1955 में वह अपनी रणनीतियों पर पुर्नविचार कर रहे थे और डा० लोहिया और अन्य राष्ट्रीय नेताओं से इस प्रश्न पर वैचारिक–आदान प्रदान के लिये भी तैयार हो गए थे। उनके आसामयिक निधन ने इन प्रयासों को फलीभूत होने का अवसर नहीं प्रदान करने दिया।

दो

जाति विनाशः डा० अम्बेडकर, डा० लोहिया और अन्य विचारक

जाति विनाश प्रश्न पर डा० अम्बेडकर के विचारों के समान्तर विचार डा० लोहिया (1962, 1963) तथा रामस्वरुप वर्मा (अर्जक संघ तथा अर्जकवाद के जनक) के थे। कुछ समीक्षक डा० लोहिया और राम स्वरुप वर्मा को डा० अम्बेडकर का धुर विरोधी मानते हैं जबकि योगेन्द्र यादव (2012) जैसे राजनीति शास्त्री कहते हैं कि डा० अम्बेडकर और डा० लोहिया (और राम स्वरुप वर्मा) सामाजिक न्याय के संघर्ष के दो चरणों के प्रणेता थे। डा० अम्बेडकर के दो घनिष्ट सहयोगियों, डा० भगवान दास (1998) और डा० छेदीलाल साथ (1992), ने अपनी–अपनी पुस्तकों में तथा इन दोनों और राम स्वरुप वर्मा ने लेखक के साथ इस बिन्दु पर 1996–1998 के बीच हुई लम्बी वार्ताओं में यह स्पष्ट किया कि डा० अम्बेडकर और डा० लोहिया जाति और जाति विनाश बिन्दुओं पर अलग–अलग ध्रुव केन्द्र थे। डा० लोहिया का जाति प्रश्न को केन्द्रबिन्दु बना कर आयोजित गैर–काँग्रेसवाद का पूरा राजनैतिक आन्दोलन, जो मुख्यतः उत्तर प्रदेश और बिहार में ज्यादा प्रभावी रहा और जिसने अन्ततः 1967 में काँग्रेस शासन की सत्ता को कई क्षेत्रों से उखाड़ा, डा० अम्बेडकर के देहावसान और राजनैतिक क्षितिज से चले जाने के बाद ही प्रभावी हुआ।

डा० अम्बेडकर और डा० लोहियाः कुछ समानताएँ

योगेन्द्र यादव (2010, 2012) के अनुसार दोनों विचारकों ने मार्क्सवादी विचारधारा से हटकर जाति िक भारतीय समाज में असमानता, शोषण और अन्याय के लिए एक स्वयं में स्वायत्त और महत्वपूर्ण कारक माना; दोनों ने इसमें लिंग और वर्ग की भी भूमिका स्वीकारी; दोनों ने जातिगत असमानता को प्राथमिकता के आधार पर खत्म करने की वकालत की, दोनों ने ही जाति को भारतीय समाज में बहुत सारी खामियों का जिम्मेदार माना; उन्होंने यह भी माना कि जाति व्यवस्था को सुध ाारा नहीं जा सकता; उसे नष्ट ही करना होगा; दोनों ने यह माना कि मात्र आर्थिक क्षेत्र में समानता आने से जातिगत असमानता नहीं जायेगी और इसके लिये वैचारिक और धार्मिक मुद्दों पर भी ध्यान देना वांछित होगा।

योगेन्द्र यादव (2012) यह भी कहते हैं कि डा० अम्बेडकर के विचारों को अग्रसारित किया। उनके अनुसार डा० लोहिया जाति को हिन्दू समाज के स्थिर और ????????????? से आगे ले गये। उन्होंने जाति को एक संस्कृति के पतन की ओर अग्रसर प्रवृत्ति बताया। इसी वजह से डा० लोहिया ने जाति, वर्ग, लिंग और भाषा को एक दूसरे को प्रभावित करने वाला करार दिया। डा० लोहिया ने माना कि देश का शासक वर्ग अमीर, उच्च जातियों, और पुरुषों का है। इसलिए उन्होंने दलितो, आदिवासियों, अन्य पिछड़े वर्ग, मुसलमानों, और गरीबों की साझीदारी की बात की।

डा० लोहिया ने डा० अम्बेडकर के अंर्तजातीय खान–पान को जाति विनाश के लिये सही उपाय नहीं माना यद्यपि दोनों ने ही अंर्तजातीय विवाह को ज्यादा प्रभावी माना। डा० अम्बेडकर ने आध ुनिक राज्य मे शासन और लोकताँत्रिक राजनीति को जाति के विनाश के लिए उपयोग करने पर जोर दिया। इसके लिये उन्होंने आवश्यक संगठन और प्रक्रियाओं पर भी जोर दिया।

डा० अम्बेडकर और डा० लोहिया की राजनैतिक रणनीतियों में काफी भिन्न्ता

डा० अम्बेडकर ने दलितों के हिन्दू समाज से अलग इकाई के रुप में मानने के लिए संघर्ष किया। उनकी रणनीति में दलितों की विशिष्ट अस्मिता, विशिष्ट आवश्यकतायें और स्वतंत्र प्रतिनिधि

ात्व सम्मिलित थे। इन्हीं से जाति विनाश हो सकता था, ऐसा वह विश्वास करते थे। इन्हीं कारणों से डा० अम्बेडकर के लिए दलितों के लिये अलग निर्वाचक मंउल, आरक्षण और बौद्ध धर्म ग्रहण करना उन्हें सशक्त करने के रास्ते थे। एक दशष्टि से यह एक अलगाववादी (सेग्रीगेटिव) रणनीति थी, लेकिन इसमें एकीकरण (एग्रीगेटिव) के तत्व भी मौजूद थे। इसके द्वारा विभिन्न समुदायों में बिखरे सभी अछूतों को एक मंच पर एकत्रित करना था। लेबर पार्टी और रिपबिलकन पार्टी इस प्रयास के सांगठनिक हिस्से थे। वर्तमान समय की दलित राजनीति एकीकरण राजनीति की अविरल चल रही खोज है, जिसमें तमाम अंर्तविरोध (चमार–पासी, माला–मदिगा, जाटव–बाल्मीकी) विद्यमान हैं (वर्मा 2011, 2012, 2012 ए. बी)। डा० लोहिया के पास दलितों की दुविधा का उपाय था। वह सभी शूद्रों/शोषितों को एक साथ रखते थे। कालान्तर में दलित पेन्थर्स ने भी इसे ही अपनाने की बात की।

सांस्कृतिक धरातल पर डा० अम्बेडकर और डा० लोहिया

डा० लोहिया सभी शोषितों की धार्मिकता की आवश्यकता (स्प्रीचुयल नीड) को भलीभाँति पहचानते थे। उन्होंने पौराणिकों (माइथोलोजी) से ऐसे प्रति–चिन्ह (काउन्टर सिम्बल्स) और कथानक ढूँढ़े जो जाति व्यवस्था के विचारों से मेल खाते थे। इनमें चर्चित थेः राम की मर्यादा बनाम कृष्ण की अमर्यादा; द्रौपदी बनाम सावित्री; वशिष्ठ बनाम वाल्मीकि परम्परा; रामायण मेला। डा० लोहिया ने और ज्यादा खोजी (इन्वेनिटव) सँास्कृतिक राजनीति की वकालत की लेकिन वह ज्यादा स्पष्ट नही थी। यही उन कारणों में से एक महत्वपूर्ण कारण था जो डा० अम्बेडकर व डा० लोहिया को एक साथ लाने में बाधा बना।

तीन

दलितों का सशक्तीकरण– गाँधी, अम्बेडकर, कांशीराम–मायावती

भारत मे मोटे तौर पर दलित सशक्तीकरण के प्रयासों की दो राजनैतिक धाराएँ देखी गयी हैं। इनमें से एक का प्रतिपादन गाँधी ने किया और दूसरे का डा० अम्बेडकर ने। डा० अम्बेडकर की धारा को उनके अनुयायिओं, विशेषकर कांशीराम और मायावती ने, उसमें कुछ परिवर्तन ला कर एक नई दिशा दीं। जैसा कि इलीनर जीलट (1998) ने स्पष्ट किया हैं, गाँधी का सुझाया मार्ग कालान्तर में काँग्रेस पार्टी ने अपनाया। गाँधी का सुझाया मार्ग मात्र अस्पश्श्यता हटाकर अछूतों को समाज में सम्मानजनक स्थान देने की बात करता था। उसमें दलितों के सामाजिक–आर्थिक–राजनैतिक स्तर में व्यवस्था परिवर्तन लाने की कोई बात नहीं थी। गाँधी ने तो उनके हेय दशष्टि से देखे जाने वाले पुश्तैनी पेशों/सेवाओं में ही लगे रहने और पारम्परिक सेवाएँ प्रदान करते रहने की भी बात कही थी। गाँधी ने कई स्थानों पर दलितों को सम्मान देने की दशष्टि से उनकी बस्तियों में निवास भी किया और अपने वर्धा आश्रम में मल साफ करने का काम भी स्वयं किया। लेकिन गाँधी का दलितों को सम्मान देना और उन्हें बराबरी का दर्जा देने का उत्साह उनके शीर्ष राजनैतिम चेलों को कतई स्वीकार नहीं था। गाँधी की सरपरस्ती में बी० ए० मूर्ति, और जगजीवन राम जैसे अन्ध–अनुयायी और मूक दलित नेताओं को काँग्रेस की धारा में कुद राजनैतिक जगह और थोड़ा बहुत काम करने का अवसर जरुर दिया गया था लेकिन, जैसा कि इतिहासकार बी० बी० मिश्र (1974) बताते हैं, यह काँग्रेस की स्वाधीनता आन्दोलन में समाज के सभी हिस्सों को सम्मिलित कर अपने राजनैतिक आधार को विस्तारित और सुदश्ढ़ करने के उद्देश्य से ज्यादा किया गया था। इस प्रकार के राजनैतिक एकत्रीकरण

में दलितों को एक अन्ध–मूक अनुयायी के राजनैतिक उपवर्ग का ही दर्जा प्राप्त था, जिसकी गाड़ी की 'स्टीयरिंग व्हील' उच्च जाति वाले नेताओं के हाथ में थी। मौलना अब्दुल कलाम आजाद ने "इड़िया विन्स फ्रीडम" में यह बिना किसी लाग लपेट के लिखा है कि गाँधी, जिसने स्वतंत्रता आन्दोलन का नेतश्त्व कर उसे आकाश की ऊँचाइयों पर पहुँचाया, को भी काँग्रेस के शीर्ष नेतश्त्व ने स्वतंत्रता प्राप्ति के तीन वर्ष पूर्व ही काँग्रेस की राजनैतिक केन्द्र बिन्दु से किनारे कर दिया था। इसके कई गंभीर परिणाम, जिनमें देश का विभाजन एक था, देश को भुगतने पड़े। यहाँ पर दलितों के साथ गाँध ी और काँग्रेस द्वारा स्वतंत्रता आन्दोलन की चर्चित कुछ राजनैतिक घटनाओं का पुनरावलोकन समाचीन होगा। बहुत सारे शोधकर्ता तो डा० अम्बेडकर की दलितों का अल्पसंख्यक मानने और उनके अलग प्रतिनिधित्व की माँग का महत्व ही नहीं भाँप पाये हैं। डा० अम्बेडकर ऐसा इसलिये चाहते थे क्योंकि इससे दलितों को राजनैतिक क्षेत्र में प्रमुख और दिखने वाली महत्ता मिलती। लम्बे समय तक ऐसा होने पर इससे दलितों की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थिति देश भर में सुधरती। पूना पैक्ट ने यह सिद्ध किसा कि काँग्रेस ऐसा नही होने देना चाहती थी, क्योंकि दीर्घकाल में इससे उच्च जातिवर्ग की सामाजिक–राजनैतिक–आर्थिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ता। डा० अम्बेडकर ने दलितों का भीषण रक्तपात रोकने के लिये अपनी यह माँग वापस ली। कालान्तर में इस प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था के बिना भी दलितों का स्थिति में किस प्रकार का क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जा सकता है, यह काशीराम–मायावती ने दिखा दिया है। उनका शोषण करते रहते हुए और उनका सशक्तीकरण न करते हुए दलितों को "टुकड़ा डालने" वाली काँग्रेसी नीति स्वतंत्रताप्राप्ति की पूरी समयावधि में अन्य राजनैतिक दलों के द्वारा भी चलाई जाती रही है। इसी नीति के कारण जगजीवन राम प्रधानमंत्री नहीं बन सके और मरणोपरान्त दिल्ली के राजघाट पर, जहाँ शासक वर्ग की अन्य राजनैतिक हस्तियों का अन्तिम संस्कार निष्पादित किया गया और जहाँ उनकी समाधियाँ है, न कर उनके बिहार के पैत्रिक जनपद सासाराम में किया गया।

डा० अम्बेडकर द्वारा तय की गई दलितों की सशक्तीकरण की नीति में उन्हें शिक्षित, संगठित होकर संघर्ष कर के अपने उत्थान के उद्देश्यों को प्राप्त करना था। उन्होंने यह सोचा था कि दलितों को राजसत्ता प्राप्त कर राज्यसत्ता के माध्यम से अपनी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति में सुधार करना होगा। अपने 40 वर्षो के राजनैतिक संघर्षो की श्रश्ंखला में उन्होंने दलितों की सोच में मौलिक परिवर्तन किया, उनमें अपनी अस्मिता और अस्तित्व को एक विशिष्टता के रुप में देखने, विश्वास करने और समाज के दूसरे वर्गो को दर्शित करने का विश्वास दिया। डा० अम्बेडकर ने दलितों में स्वयं को सम्मान देना सिखाया। दलितों ने उनके द्वारा प्रजाताँत्रिक व्यवस्था के द्वारा प्रदान करवाये गये अधिकारों का उपयोग पहले डगमगाते कदमों से और फिर बाद में कुछ दश्ढ़तापूर्वक करना सीखा।

डा० अम्बेडकर की राजनैतिक विरासत को काँशीराम–मायावती ने एक नया मोड़ दिया। इसका विवेचन विभिन्न समीक्षकों ने किया है। यह दो प्रकार के हैंः

एकः जिनमें बहुजन समाज पार्टी (बसपा) के, उत्तर प्रदेश के राजनैतिक क्षितिज पर छा जानने का ऐतिहासिक और क्रमिक कदमों सहित वर्णन है। इनमें से एक, राजकुमार रावण (2012) पर हम दृष्टि डालेंगे। दूसरा विवेचन ए० के० शर्मा (2004, 2007, 2009) का है, जिन्होने इसे एक नयी थ्योरी (ओसमासिस ओर रिवर्स सोशल ओसमासिस) के रुप में प्रस्तुत किया है। राजकुमार रावण ने

बसपा की दलित राजनैतिक ध्रुवीकरण शैली को सामाजिक एकीकरण का एक हथियार माना है। उनके अनुसार बहुजन (और सर्वजन) दलितों के एकीकरण का एक हथियार, एक रणनीति, एक विचार श्रश्रृँखला, (आइडियालोजी) और एक संगठनात्मक पद्धति रहा हैं। इसमें जाति बन्धन तोड़कर बहुजनों के समाज का निर्माण किया गया है। इस व्यवस्था में 6000 साथ–साथ उत्पीड़ित जातियों को एक मंच पर लाकर भावनात्मक रुप से एकीकृत किया गया है। बसपा के लिये भारतीय संविधान ही उसका राजनैतिक मंतव्य (पोलीटिकल मैनीफैस्टो) रहा है। बसपा का संगठन समानान्तर रुप से प्रतिनिधित्व वाला है ओर भागीदारी की दशष्टि से उदारवादी। बसपा आन्दोलन ने दलितों पिछड़ों के महापुरुषों की विरासत को संजोकर एक साँस्कृतिक पूँजी निर्मित की है। उसने स्वाभिमान और न्याय को देश का एजेन्डा बनाया, आम नागरिकों को प्रजातंत्र का मालिक बनाया, और दलितों को बहिष्कृत किये गये वर्ग से हटाकर नये शासक बनाया है।

ए० के० वर्मा ने उत्तर प्रदेश के राजनैतिक क्षितिज पर सपा और बसपा के प्रभुत्व को "सोशल ओसमासिस" और "रिवर्स सोशल ओसमासिस", जिसमें विचार श्रश्रृँखला (आइडियोलाजी) से जाति और जाति से विचार श्रश्रृँखला का जातिगत इकाइयों के एक राजनैतिक ध्रुव से दूसरी ओर आते–जाते रहने से होता है, की एक थीसिस के रुप में किया है। ए० के० वर्मा यह भी कहते हैं कि जातिगत राजनीति में ही विचार श्रश्रृँखला आधारित राजनीति के बीज समाहित होते हैं। बसपा की साँठिनिक विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए वह कहते हैं कि बसपा ने विभिन्न जातियों के ऊपर दलित राजनैतिक प्रभुत्व को पार्टी के सभी स्तरों तक इस्तेमाल किया है और इसमें एक और गैर–दलित जातियों की भागीदारी तो सुनिश्चित होती है, लेकिन राजनैतिक निर्णय इसके लिये नियुक्त संयोजको (कोआरडिनेटर्स), जो दलित ही होते है, पर होती है। वर्मा कहते है, कि प्रजाताँत्रिक व्यवस्था की यही खूबी है कि कुचले हुए और हाशिये पर रखे गये हुए वर्गो, जिन्हें अभी तक इस व्यवस्था से कोई लाभ नहीं मिला था, अब इसी व्यवस्था के सबसे बड़े प्रहरी बन कर उभरे हैं। इस जाति–आधारित राजनैतिक व्यवस्था के कारण राजनीतिज्ञों के व्यवहार में गुणात्मक बदलाव आया है। पार्टियों मे परिवारवाद उभरा है लेकिन अब यह भी साफ हो रहा है कि बगैर काम किये राजनीति में ज्यादा दिनों तक टिके रहना कठिन होता जायेगा।

अगर राजकुमार रावण का स्तुतिगान और ए० के० वर्मा की थ्योरी को एक तरफ रख कर बसपा के राजनैतिक प्रयोग पर एक गहरी दशष्टि डाली जाये, तो निम्न बिन्दु उभरते हैं। इस प्रयोग मे राजनैतिक और प्रशासनिक ढाँचे पर दलितों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। इसके बहुजन हिताय से 'सर्वजन हिताय' की यात्रा में ब्राह्मणों को मायावती के चरणों में बैठकर काम करने में कोई संकोच नहीं होता; यह माडल दलितों का मात्र सामाजिक स्तर ही नहीं बदलता वरन् महत्वपूर्ण रुप से वह उनके आर्थिक और राजनैतिक स्तर को बहुत कम समय में बहुत अधिक बदलने का काम करता है; इसी प्रकार के दलित सशक्तीकरण के एजेन्डे के अंर्तगत मायावती ने 2011 में 50 नये आई. टी. आई और 4 नये मेडिकल कालेजों में 70 प्रतिशत सीटें दलितों के लिये आरक्षित कीं और पाँच लाख रुपये तक के सरकारी निर्माण के ठेकों में दलितों के लिए 23 प्रतिशत आरक्षण दिया। 2012 में होने वाले पाँच राज्यो की असेम्बली चुनावों पर इसकी दूरगामी चुनौती को भाँपते हुए केन्द्रीय सरकार ने भी दलितों के लिये चार प्रतिशत निर्माण ठेके देने के आरक्षण का निर्णय लिया। इस माडल ने नेहरु–गाँधी परिवार के सांस्कृतिक सांकेतिक स्थलों को भी टक्कर देने का काम दलित/पिछड़े वर्गो के

महापुरुषों के नाम पार्को/स्मारक बनाने, जनपदों, के नाम रखने और विभिन्न विकास कार्यक्रमों के नाम देने से किया। यह सही है कि यह राजनैतिक माडल उत्तर प्रदेश इस लिये भी सफल हुआ है क्योंकि वहाँ दलितों का जनसंख्या में प्रतिशत 21 से अधिक है और अपने शोषण और उपेक्षा से तंग आ कर काफी बड़ी संख्या में अति पिछड़ों और मुसलमानों ने भी बसपा का दामन थाम लिया। यह भी सही है कि बसपा इस माडल को भारतीय जनतंत्र के किसी अन्य राज्य में अभी तक प्रत्यारोपित नही कर सकी है, लेकिन माडल के चमत्कारिक परिणामों की झलक तो दिखयी जा चुकी है।

क्रियान्वित रिवर्स सोसल ओसमासिस का असली चेहरा

राजकुमार रावण और ए० के० वर्मा के विश्लेषणों की एक गंभीर त्रुटि यह है कि वह जातिगत ध्रुवीकरण के आधार पर सत्ता प्राप्त करने के बसपा के राजनैतिक आचरण पर ही प्रकाश डालते हैं। डा० अम्बेडकर ने सत्ता प्राप्त करना मुख्य उद्देश्य नहीं इंगित किया था। बल्कि सत्ता के माध्यम से दलितों और वंचितो को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक रुप से सशक्तीकरकृत करना बताया था। बसपा ने पहले सपा, बाद में भाजपा और फिर अकेले ही सत्ता का किस प्रकार उपयोग/दुरुपयोग किया, इसकी जमीनी हकीकत यह दोनों ही समाज विज्ञानी नहीं दर्शित करते। ऐसा करने के लिए पार्टी और शासन की आन्तरिक, प्रायः जनता को न नजर आने वाली प्रक्रियाओं की आधिकारिक जानकारी होना आवश्यक है और वही कर सकता है जो समाज विज्ञानी के अतिरिक्त सत्ता व्यवस्था के उच्च स्तर का लम्बे समय तक का भागीदार और राजदार रहा हो। ऐसे विश्लेषण से बसपा की असलियत इस प्रकार उभरी है। बसपा 2007–2012 से बहुत पहले ही एक ऐसा संगठन बन चुका था, जो वृहद रैलियों के जरिये राजनैतिक प्रतिद्वन्दयों पर हावी होने का माहौल बनाता था। यह रैलियाँ काफी हद तक भाड़े की रैलियाँ होतीं थीं और इस समय भी ऐसा ही है। प्रत्येक क्षेत्र से बसपा के अधिकृत नेताओं को इसके लियं संख्या आंवटित होती थी, पैसा दिया जाता था, सरकारी मशीनरी का उपयोग (दुरुपयोग) कर वाहन उपलब्ध कराये जाते थे, रैली में लाये (आये नहीं) प्रतिभागियों को भोजन, आदि के अतिरिक्त प्रति व्यक्ति का भुगतान किया जाता था। [4]रैली स्थान की भव्य व्यवस्था का ठेका होता था। इसके लिए पैसे की व्यवस्था पार्टी से जुड़े राज्य प्रशासन के अधिकारी उगाही कर के किया करते थे। बामसेफ, डी० एस० 4 में मुख्य भूमिका सरकारी कर्मचारियों की होती थी। बसपा में भी ऐसा ही रहा। बसपा के लिये प्रारम्भ से ही मुख्यतः दलित प्रशासक अधिकारी ही पार्टी फन्ड एकत्र करवाते थे। मायावती के तीसरी बार मुख्य मंत्री बनने के उपरान्त पार्टी के पदाधिकारियों और चुने हुए विधायक/संसद सदस्यों को भी पार्टी फन्ड को जमा करने की एक निश्चित रकम देनी होती थी। [5]वह इसे प्रशासकीय दबाव से एकत्र करते थे। ऐसा करना इसलिए संभव था क्योंकि मायावती का शासन तुगलकी शासन रहा है। उसमें सारी सत्ता उनमें ही निहित थी। ठीक उनके नीचे अनेक्सी भवन, जहाँ उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री कार्यालय होता है, के पाँचवें तल पर मुख्यमंत्री के सभी प्रमुख सचिव होते थे, जो राज्य सराकार के बाहरी औपचारिक प्रशासनिक विभागों का नियंत्रण करते थे। इनमें ज्यादा लोग दलित संवर्ग के आई० ए ० एस०/पी० सी० एस० होते थे। यह संगठन सरकार के अन्दर वास्तविक सरकार होता था और जनपदों व मन्डलों के अधिकारियों को खौफज़दा रख कर मनमाना काम कराता था। इसमें मायावती का बड़े से बड़े आई ए एस/आई पी एस/पी सी एस को मौके पर निलबिंत करना और कहे अनुसार काम न करने पर प्रताड़ित करना पूरी नौकरशाही के मनोबल को जमींदोज कर मनमानी करने का मार्ग प्रशस्त करता था।

मायावती स्वयं राजनीति और प्रशासन दोनों ही को एक पक्षीय ढंग से चलाती हैं। बैठकों में वह बोलती हैं और बाकी सब सुनते हैं या उनके पूछे सवालों का जवाब देते है। वह निर्णय करती है, बाकी उस पर प्रश्न नहीं उठा सकते। 2012 की हार के बाद उनके चहेते शशांक शेखर सिंह को राज्य सभा भेजने का पार्टी के विधायकों द्वारा अप्रैल 2012 में रोक दिया जाना इसका अकेला अपवाद है। उन्होंने दलितों से सीधे सम्वाद की बात तो की, कुछ चुनिन्दा दलितों की बात भी सुनी, लेकिन जहाँ तक रिवर्स सोशल ओसमोसिमस के दूसरे ध्रुव, ब्राह्मणों की बात थी वह सतीश मिश्र के माध्यम से ही होता था। ओबीसीज मे से अति पिछड़े के लिए स्वामी प्रसाद मौर्य/ बाबू सिंह कुशवाहा और मुसलमानों के लिये नसीमुद्दीन सिद्दीकी थे। इस व्यवस्था की अनकही लेकिन सर्वविदित बात यह थी कि यह मुख्यतः मायावती के लिए थी, दूसरे दलितों के आकाओं के लिये थी परन्तु जो कुछ भी उन्हें प्राप्त होना था या हुआ उसे विशेषकर ओबीसीज, और उच्च्च जातियों और उनमें से भी क्षत्रियों के खर्चे पर होना था। ब्राह्मण भी इस व्यवस्था में एक बंदरबाँट के तहल शामिल हुए थे। वह पिछले लम्बे समय से मलाई, जिसे निंरतर खाने के वह पुश्तैनी रुप से आदी थे, से वंचित थे और, वोट के बदले इसे प्राप्त किया। लेकिन यह सभी ब्राह्मणों के लिये नहीं था और इसे सतीश मिश्र व उनके रिश्तेदारों तक सीमित रखा गया था। अन्य बातों के छलावे के साथ यह भी रिवर्स ओसमासिस का छलावा था। 2012 तक सामान्य ब्राह्मणों ने चुनावों में इसका प्रतिकार किया।

सैद्धान्तिक रुप से रिवर्स ओसमासिस में दोनों ध्रुव अगर उनसे अपेक्षित व्यवहार नहीं करते तो सारी रासयनिक प्रक्रिया फेल हो जाती है। 2012 के चनाव मे पश्चात् तमाम विश्लेषको ने बसपा के विभिन्न घटकों के विदक जाने की बात की है। वर्तमान लेखक ने 2007 में एक अंर्तराष्ट्रीय संगोष्ठी के मंच से बसपा के रिवर्स सोशल ओसमासिस माडल की उपरोक्त असलियत का कच्चा चिटठ्ा ए० के० वर्मा की मौजूदगी में ही दे दिया था (एच० एस० वर्मा 2007, 2009)। शुरु से ही बसपा का रिवर्स सोसल ओसमासिस एक छलावा रहा हैं और मायावती के चारों मुख्यमंत्रित्व कालों (पर विशेषकर 2007–2012) इसके खुले उदाहरण रहे है। इस ध्रुवीकरण प्रक्रिया से उग्र दलित प्रतिरोध, जिसका बड़ा प्रमाणिक विश्लेषण अनुपमा राव (2009) महाराष्ट्र के संदर्भ में करती हैं, उत्तर प्रदेश में भी फूटेगाा और बसपा इससे प्रभावित होगी।

उत्तर प्रदेशः रिवर्स सोसल ओसमासिस का 2012 का कड़ुवा सच

उत्तर प्रदेश के सामाजिक धरातल, बसपा और उत्तर प्रदेश शासन की भीतरी मशीनरी, प्रक्रियाओं और कार्यक्रम क्रियान्वन की वास्तविकता की आद्यतन और प्रमाणिक जानकारी के आधार पर उत्तर प्रदेश में रिवर्स सोसल ओसमासिस का 2012 का कड़ुवा सच निम्नवत उभरता है:

– मायावती के दिखने वाले और वास्तविक राजनैतिक चोले अलग–अलग हैं।

– उनके शासन में मात्र उन्हीं में सारी की सारी सत्ता निहित थी। उस सत्ता का उपयोग/दुरुपयोग उनकी मर्जी पर निर्भर था। वह निरंकुश थीं और उन्होंने प्रशासन और पदाधिकारियों को जनता को बेधड़क लूटने का औजार बनाया।

– मायावती ने राजनैतिक विरोध को व्यक्तिगत दुश्मनी मे बदला और विरोध करने वालों को निरंकुश रुप से कुचला।

– इस प्रशासन मे दलितों द्वारा समाज के अन्य वर्गो का "रिवर्स डिस्क्रीमिनेशन" प्रशासन द्वारा और प्रिवेन्शन आफ एट्रोसिटीज अगेस्ट सिडीउल्ड कास्टस एन्ड सिडिउल्ड ट्राइब्स एक्ट, 1989 के माध्यम से वसूली और शोषण के लिए कुछ इलाकों में व्यापक रुप में हुआ।

– पार्टी के विधायक/सांसद पार्टी के संचालकों (कोआरिडिनेटरो) द्वारा बेअसर कर दिये गए थे। सभी पदाधिकारियों की कारगुजारी पर जासूसी होती थी।

– विकास का कार्य मुख्यतः दलितों पर ही केन्द्रित कर दिया गया था। किसानों के हितों को नुकसान पहुँचाने का काम खुलेआम किया जा रहा था।

– जैसा कि ग्रेटर नौएडा और ग्रेटर नोएडा एक्सटेन्सन और गंगा और यमुना एक्सप्रेसवे प्रकरणों से उजागर हुआ, मायावती ने पीटर को लूट कर पाल (और स्वयं) को लाभान्वित किया।

– उत्तर प्रदेश के 65 साल के स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के इतिहास में मायावती का 2007–2012 का शासन सबसे बड़ा संस्थागत भ्रष्टाचार का शासन था जिसमें कानून बिल्कुल ही ताक पर रख दिया गया था।6

– 2012 के असेम्बली चुनावों मे लगभग दो वर्ष पूर्व 2009 में ही मायावती जान गई थीं कि उनका पतन अवश्म्भावी है। उसे रोकने के लिए उन्होंने राज्य के लोकायुक्त की रिपोर्टों के आधार पर 23 मंत्रियों का बर्खास्त किया। चुनाव के समय लगभग 40 प्रतिशत विधायकों के टिकट भी काट दिये, लेकिन बुरी राजनैतिक हार को नहीं रोक पाईं।

– मायावती के शासन करने के तरीके ने रिवर्स सोसल ओसमासिस की पूरी थीसिस को तार–तार कर दिया, जिसके चलते दलितों में से पासी, ओबीसीज में से कुछ अति पिछड़े अल्प–संख्यकों में मुस्लिम और उसके साथ सत्ता का सुख भोगने वाले ब्राह्मण उनसे बिदक गये। रिवर्स सोस ओसमासिस का प्रयोग उच्च जातियों द्वारा दलितों के शोषण की तरह अपने विरोधियों का उसी प्रकार का शोषण कर के प्रजातांत्रिक व्यवस्था में सत्ता ज्यादा दिनों तक नहीं रह सकती। दूसरे, विकास मे भी दलितों के अलावा अन्य वर्गो के विकास को बन्द करना भी राजनैतिक दुष्परिणाम जरुर लायेगा। इस मायने में 2012 के उत्तर प्रदेश के चुनाव प्रताप भानु मेहता (2012) के शब्दों में वोटरों द्वारा पैट्रोनेज के ऊपर सशक्तीकरण, बीते समय के ऊपर भविष्य, खोखले शब्दाडम्बर के ऊपर ठोस काम, सनकीपन के ऊपर गंभीरता, हवाई कलाई बाजी के ऊपर जमीन से जुड़ा होना, और रुखी शिष्टता के ऊपर सधी हुई वास्तविकता को सही बताने का प्रयास था। इसका अर्थ यह नहीं हे कि रिवर्स सोसल ओसमासिस प्रयोग ही गलत था। असली बात यह है कि उसका दुरुपयोग हुआ और डा० अम्बेडकर के मिशन को सफलता की एक कौंध दिखा कर उसका पटाक्षेप हो गया।

चार

2012 में जाति, जाति विनाश का समसामयिक यथार्थ

अपने प्रकार की अनूठी संस्था के रुप में जाति ने उल्लेखनीय जीजीविषा दिखाई है। उसमे परस्पर विरोधी बदलाव और ठहराव की प्रवश्त्तियाँ देखी गई हैं। यह प्रवश्त्तियाँ सभी स्थानों और समय कालों में एक सी नहीं रही हैं और इसमें जो परिवर्तन हुआ है, उसने ऊँची और नीची और मझोली सीढ़ियों पर स्थित सभी जाति समूहों को प्रभावित किया है। यह सही है कि अपेक्षाकृत रुप से मंझोली और निचले क्रम की जातियों के स्तर में अधिक परिवर्तन आया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के 65 वर्षो में जाति में आये कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन निम्नवत हैः

– वर्ण व्यवस्था के अनुसार तथाकथित शूद्र वर्ण की कुछ मंझोली जातियों ने क्षत्रियों की भूमिका हथिया ली है। इनमें आँध्र के रेड्डी और कम्मा, कर्नाटक के गौड़ा और लिंगायत, महाराष्ट्र

के मराठा, केरल के नैय्यर और इझवा, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान के जाट, उत्तर प्रदेश व बिहार के यादव भी शामिल हैं।

– कुछ उच्च जातियों ने मंझोली जातियों को अपने में किसी स्वार्थवश समाहित किया है। (क्षत्रियों ने उत्तर प्रदेश में सैंधवार कुर्मियों और गुजरात में कोली दोनों ही राज्यों मे क्षत्रियों के पास आने वाली बहुओं की कमी थी, जिसे उन्होंने सैंधवार और कोली) समुदायों से उन्हें उच्च सांस्कृतिक स्तर प्रदान करने और सत्ता का सुख प्राप्त करने के छलावे से किया। यह प्रयोग दोनों ही जगह एक तरफा होने के कारण असफल रहा।

– शुद्रों के अपना शैक्षिणक और आर्थिक स्तर सुधारने के साथ राजसत्ता में हिस्सेदारी के पश्चात् वर्ग लक्षण उभर कर आये हैं। इसे तमिलनाडु, आँन्ध्र, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, हरियाणा में विशेष रुप से देखा गया है।

– भिन्न–भिन्न जाति समूहों में भाँति–भाँति के साँस्कृतिक बदलाव आये हैं। इनमें बी० के० सरकार/एम० एन० श्रीनिवास का साँस्कृतिकरण, कन्चा इल्लैया का दलितीकरण, रामस्वरुप वर्मा का अर्जकीकरण, श्याम लाल का प्रति–साँस्कृतिकरण, प्रेमा कुरियन का इझवाओं में नये संस्कारों का उदय और नैय्यर तथा अन्यों द्वारा उनका अनुसरण एवं धार्मिक व्यवहार के संदर्भ में नवबौद्धीकरण (विशेषकर महाराष्ट्र में), डेराकरण (पंजाब में) और आदिवासी समूहों द्वारा अपने स्थानीय आदिवासी धर्मो को छोड़ते हुए ईसाईकरण/हिन्दूकरण सम्मिलित हैं।

जाति के शुद्धता और अशुद्धता वाले सोच का उल्लेखनीय ह्रास हुआ हैं, लेकिन सभी जगह एक सा नहीं। मानव/समाज शास्त्रीय अध्ययन कहते हैं कि दक्षिण में यह उत्तर की अपेक्षा जयादा कम नहीं हुआ।

– जाति का राजनीतिकरण और सेक्यूलाराइजेशन हुआ है और देश की राजनीति में वह एक उल्लेखीय भूमिका निभा रही है। पहले जाति शोषण और अपंवचन के लिए ज्यादा कुख्यात थी, अब इसके माध्यम से शूद्रों का सशक्तीकरण हुआ और तथाकथित उच्च जातियों को उनके सामने अब नरम होना पड़ा है।

– जाति पश्थकीकरण को कम भी कर रही है और वंचित वर्गो, विशेषकर दलितों को अपने दलित चोले में ही घिरे रहने को प्रेरित कर रही है।

– कुछ अपवादों को छोड़ कर जाति और आदिवासी सम्पर्क (इनकाऊँटर), आदिवासियों के लिए घातक साबित हुआ है। आदिवासी क्षेत्रों में गैर–आदिवासियों के बसने, उनके क्षेत्रों की खनिज और अन्य प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और बड़ी–बड़ी अवस्थापना परियोजनाएँ क्रियानिवत करने से आदिवासियों को विस्थापित किया गया है, उन्हें पारम्परिक सम्पदाओं के उपयोग से वंचित और बहुत अधिक शोषित किया गया है। अंग्रेजी शासन में पहले मिशनरीज ने उन्हें ईसाई बनाया, अब कट्टर हिन्दूवादी उनके स्वतंत्र स्थानीय धर्मो, भाषा और रीति रिवाजों को समाप्त कर रहे हैं।

दलित जाति प्रश्नः सम–सामयिक वास्तविकता

नेशनल सैम्पल सर्वेक्षणों और नेशनल फेमिली हेल्थ सर्वेक्षणों के आद्यतन अध्ययन बताते है कि काफी दलित वर्ग अभी भी गरीबी की योजना आयोग द्वारा निश्चित रेखा से नीचे है, उनका शैक्षिक और स्वास्थ्य स्तर नीचा है और उनकी आर्थिक स्थिति भी बहुत शोचनीय है। इसके बावजूद स्वतंत्रता प्राप्ति के 65 वर्ष बाद उनकी स्थिति में दिख पड़ने वाला सुधार हुआ है। सुखदेव थोरट और अमरेश

दुबे के 2011 के एक अध्ययन के अनुसार उनकी आमदनी बढ़ी है और पहले की अपेक्षाकृत गरीबी घटी हैं। वर्मा 2003 के एक अध्ययन के अनुसार उत्तर प्रदेश में सामाजिक–आर्थिक दृष्टि से मुसलमान सबसे निचले पायदान पर हैं, उसके बाद दलित।

वर्मा (2006, 2009) तथा कपूर, चन्द्रभान प्रसाद व अन्य (2010) के एक अध्ययन के अनुसार दलितों के पेशों में बदलाव हुआ है। उनमें काफी लोग बटाईदार औ सीमान्त किसान बने हैं और सीमान्त किसान बने हैं और कुछ छोटे मोटे व्यवसाय भी करने लगे हैं। महाराष्ट्र और पंजाब में तो वह उद्यमी भी बने हैं और उनका फिक्की की तर्ज पर अपना उद्यमी संगठन, डिक्की भी बन चुका है। दिसम्बर 2011 में उन्होंने मुम्बई की बान्द्रा–कुर्ला क्षेत्र में अपनी एक औद्योगिक उत्पादों की एक प्रदर्शनी भी लगाई।

दलितों में एक मलाई की पर्त (क्रमीलेयर) भी बन गई है जिसे दलित पैंर्थस ने "दलित ब्राह्मणों" की संज्ञा दी है। 62 वर्षो से आरक्षण का 99 प्रतिशत लाभ दलितों और आदिवासी समूहों के मात्र 5–10 समूह ही उड़ाते रहे हैं और एक दलित (ओ० पी० शुक्ल) ने इसे सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती भी दे डाली है। लम्बे समय में सत्तारुढ़ शासक इसको बदलाना टालते रहे हैं।

पहले मुगल, फिर ब्रिटिश शासन काल में दलितों को इस्लाम और ईसाई धर्म मजबूरी और प्रलोभन के लिये लेना पड़ा। डा० अम्बेडकर के आह्वान पर उन्होंने बौद्ध धर्म अपनाया। लेकिन उनके दलित चोले ने उनका दामन इन बदले हुए धर्मो में भी न छोड़ा और वहाँ भी उन्हें निम्न दर्जा ही मिला। सिक्ख दलितों ने तो अपना अलग सिक्ख दर्शन ही बना कर अपने अलग गुरुद्वारे और डेरे स्थापित कर लिये हैं।

दलित सोच में व्यापक परिवर्तन आया है। महाराष्ट्र में दलित पैंर्थस ने एक उग्र अस्मिता दिखाई थी, जिसका मराठा समाज ने बर्बर तरीके से प्रतिकार किया था। दलित अग हर राज्य में कहीं कम कहीं ज्यादा अपनी स्वतंत्र और विशिष्ट अस्मिता को दर्शित कर रहे हैं। लेकिन दलित जाति एक ऐसा प्रश्न हैं जिसे दलितों को संतोषजनक रुप से हल करने के लिए भारतीय समाज के अन्य हिस्सों (उच्च जातियाँ, ओबीसीज, तथा आदिवासी) की अस्मिता सीधे प्रभावित होती है। दलितों का अस्मिता प्रदर्शन दूसरों की अस्मिता पर प्रभाव डालता है और वह अपनी केन्द्रीय प्रधानता कम करने को आसानी से राजी होते नजर नहीं आते। यही यथार्थ हैं।

टिप्पणियां

1. यह प्रपत्र महात्मा गाँधी अंर्तराष्ट्रीय विद्यायल, वर्धा की डा० अम्बेडकर पीठ द्वारा, 29–31 मार्च 2012 को आयोजित एक अंर्तराष्ट्रीय संगोष्ठी में लेखक द्वारा प्रस्तुत विचारों का लिखित रुप है।

2. इस प्रपत्र के लेखन की लेखक की अपनी विशिष्ट व्यक्तिगत और प्रोफेशनल पृष्ठ भूमि है। यह विशिष्टता आठ बिन्दुओं से सम्बन्ध रखती है।

एकः छात्र के रुप 1954–55 में बाराबंकी, उत्तर प्रदेश में डा० राम मनोहर लोहिया से जाति, जातिगत शोषण और विनाश के संघर्षों पर उनके विचारों का सीधे प्राप्त मार्गदर्शन

दोः डा० अम्बेडकर के घनिष्ट सहयोगियों डा० भगवानदास और डा० छेदीलाल साथी तथा डा० लोहिया से जाति प्रश्न पर शास्त्रार्थ कर चुके महारथी और अर्जक संघ और अर्जकवाद के जनक राम स्वरुप वर्मा से 1996–1998 में की गई लम्बी वार्ताए

तीनः पिछड़ी जाति का होने के कारण राष्ट्रीय और अंर्तराष्ट्रीय स्तर का प्रोफेशनल प्रतिष्ठित कार्य सम्पादित करने के बावजूद देश की लब्ध प्रतिष्ठित संस्थाओं में कार्यरत होते हुए अपमानित, तिरस्कृत, पीड़ित और वंचित किये जाने का भोगा हुआ निजी अनुभव (वर्मा 2006)

चारः उत्तर प्रदेश पिछड़ा वर्ग आयोग (1996–1998), और अम्बेडकर महासभा उत्तर प्रदेश में 1989–1998 में ओबीसी और दलितों के उत्पीड़न सम्बन्धी क्रमशः अर्ध–न्यायिक और एक से संघर्ष में लिंक पिन का कार्य सम्पादन

पाँचः इन्दिरा साहनी (1994) के बाद में उत्तर प्रदेश शासन के प्रतिनिधि के रुप में जाति विषयक समाजशास्त्रीय अध्ययनों का सम्पादन और बाद की अवधि (1989–1992) में उत्तर प्रदेश शासन और उच्चतम न्यायालय में शासन के विधिक प्रतिनिधियों के बीच लिंक पिन का कार्य

छः अरुण शौरी के "वारशिपिंग फाल्स गाडस" के प्रत्युत्तर में डा० अम्बेडकर के संविधान निर्माण पर शौरी की शैली को तार–तार करता हुआ और डा० अम्बेडकर के योगदान के अनूठेपन को पुर्नःस्थापित करता हुआ चर्चित शोधपत्र(वर्मा 2013)

सातः मानव/समाज विज्ञानियों के द्वारा भारतीय समाज, उसकी परम्पराओं, संस्थाओं और प्रक्रियाओं पर किये गए शोधों पद्धितियों में विद्यमान त्रुटियों का सहपाठी और मित्र कृष्ण प्रकाश गुप्त (1974, 1978) के पश्चात् स्वयं का चर्चित पुर्नमूल्यांकन (वर्मा 1980)

आठः दलित प्रश्न पर हाल के वर्षों का स्वयं का शोध कार्य (वर्मा 2007, 2009, 2011, 2012, 2012 ए.बी.।)

3. इनमें उन कृतियों को नहीं सम्मिलित किया गया है जो डा० अम्बेडकर के दर्शन पर ही हैं, लेकिन जिन्हें उन्होंने स्वयं नहीं लिखा।

4. बसपा के समर्थक इस मुद्दे पर यह कहते हैं कि रैलियों में मुख्यतः दलित और अति पिछड़े वर्ग के विपन्न दैनिक कार्य कर रोजी चलाने वाले लोग होते हैं। रैलियों में आने पर उनकी उन दिनों की मजदूरी से हाथ धोना होता है। उन्हें रैलियों के लिये दिया जाने वाला धन आंशिक रुप से इस हानि की भरपाई है।

5. कुछ वर्ष पूर्व इस तथ्य की तस्दीक अमर सिंह, जब वह सपा के महासचिव हुआ करते थे, ने बसपा विधायकों की एक बैठक, जिसे मायावती ने सम्बोधित किया था, की सी० डी० सार्वजनिक करके की थी। इस सीडी में मायावती ने कथित रुप से विधायकों से अपने लोकल एरिया डेवलपमेंट फंड से एक हिस्सा पार्टी को देने के लिए कहा था। बसपा में पार्टी फंड ओर मायावती को व्यक्तिगत भुगतान में कोई फर्क नहीं होता। कानूनी पचड़े से बचने के लिये बसपा के ब्राह्मण चेहरे और कानूनविद सतीश मिश्र की सलाह पर मायावती को भुगतान थोड़ी–थोड़ी रकम भिन्न–भिन्न नाम, पते और एक शपथपत्र के साथ की जाती है और उसमें मायावती को दिये गये धन को जैसा वह चाहें उपयोग करने के लिए अधिकृत भी किया जाता है। संस्थागत भ्रष्टाचार की एक सांगठनिक व्यवस्था काँग्रेस, भाजपा, और सपा सभी पार्टियों के शासन में भी रही है लेकिन बसपा में इसका आयाम बिल्कुल निराला रहा है। अन्य पाटियों में इस छिपी व्यवस्था में सम्बन्धित विभागीय मंत्री, अधिकारी, और एकाथ बिचौलिए रहते थे और प्राप्त रकम का कुछ हिस्सा पार्टी प्रमुख मुख्यमंत्री को जाता था। बसपा में ऐसा पूरा तंत्र स्वयं मायावती के पास रहा है और मंत्रियों का महत्व बहुत कम रहा है। मायावती ने यह सारा खेल पंचम तल के अफसरों का सरपरस्ती में लगभग खुलेआम करवाया। नसीमुद्दीन सिद्दकी और बाबू सिंह कुशवाहा इसका अपवाद मात्र थे।

6. मायावती के कई गैर कानूनी तुगलकी निर्णयों को इलाहाबाद हाई कोर्ट की मुख्य और लखनऊ पीठों ने खारिज किया था, लेकिन उच्चतम न्यायालय की कुछ पीठों, जिनका दलित मुख्य न्यायाधीश जस्टिस बालकृष्ण नेतश्त्व करते थे, ने काफी राहत प्रदान की।

7. इसका विस्तृत विश्लेषण वर्मा (2011, 2012, 2012 ए. बी.) में देखा जा सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ

भीमराव अम्बेडकर, 1943 दि इमोन्सिपेशन आफ दि अन्टचेबिल्स, मुम्बई, थैंकर्स।

जोई अरुण, 2003 कान्स्ट्रकिटंग दलित आइडेनिटटी, जयपुर रावत पब्लिसर्स।

देवेश कपूर, चन्द्रभान प्रसाद, लेविट प्रीट थेट एण्ड डी० श्याम बाबू, 2010ः रीथिनिकंग इनइक्वेलिटीः दलित्स इन यू० पी० इन मार्केट रिफार्म इरा, नई दिल्ली, इनिडयन इन्सटीटयूट आफ दलित स्टडीज।

प्रेमा कुरियन, 2002 क्लाइडोस्कोपिक इथनीसिटीः इन्टरनेशनल माइग्रेसन एन दि रिकान्स्ट्रक्सन आफ कम्यूनिटी आईडेन्टेटीज इन इनिडया, र टगर्स युनवीर्सिट प्रेस।

विजय रामेशवर राव गायकवाड़, 1991, 1191एः इन प्रेज आफ कास्टः एक ट्रीव्यूट टू मनु दि ला गिवरः ऐन इन्क्वारी इन टू फिलासोफी आफ वर्क एन्ड स्ट्रेटीफिकेशन, पार्ट पए एन्ड प्प, अहमदाबाद, इनिडयन इन्सटीटयूट आफ मैनेजमेन्ट।

मार्क गैलेन्टर, 1990 : कम्पीटिंग इक्वैवलिटीजः दि ला एन्ड दि बैकवर्ड क्लासेज इन इनिडया, नई दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस

कृष्ण प्रकाश गुप्त, 1974 : सोसालजी आफ इनिडयन ट्रेडीसन एन्ड ट्रेडीसन आफ इनिडयन सोसालजी, सोसालिजीकल बुलेटिनः 23ः1ः 14–43

1978 : रेलीजन इन रामपुरा : दि एन्थ्रो–पालिजकल एप्रोज रिवीजिटेड, कन्ट्रीब्यूसन्स टू इनिडयन सोसालाजी (न्यू सीरीज) : 12ः1ः97–108

क्रीस्टाफ जफरलाट, 2003 : इनिडयाज साइलेन्ट रिवूलूसनः दि राइज आफ लो कास्टस इन नार्थन इनिडया, नई दिल्ली, परमानेन्ट ब्लैक।

इलीनर जीलाट,1996 : फ्राम दि अनटवेबल टू दलितः इसेजेस इन अम्बेडकर मूवमेन्ट, नई दिल्ली, मनोहर लुई डड्मा, 1970 : होमो हाइरिक्क्सः दि कास्ट सिस्टम एन्ड इटस इम्पलीकेसन्स, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस

सुखदेव थोरट एण्ड अमरेश मिश्र, 2011 : कास्टस इन ए डिफरेन्ट मोल्ड, नई दिल्ली।

महाराष्ट्र शासनः डा० भीम राव अम्बेडकर की कृतियों, 27 खड़ों में, बसन्त मून (सम्पादक), मुम्बई

प्रताप भानु मेहता, 2012 : व्हाट रिजल्टस आफ यू.पी. स्टेट असेम्बली इलेक्शन्स इन फेब्रुयरी 2012 मीन? इनिडयन एक्सप्रेस, 7 मार्च।

बी० बी० मिश्र, 1974 : दि इनिडयन पोलीटिकल पार्टीजः ए हिस्टोरिकल एनालिसिस आफ पोलिटकल बिहैवियर अप टू 1947, नई दिल्ली, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

अनूपमा राव, 2009: दि कास्ट क्वश्चनः दलित्स एन्ड दि पालिटिक्स आफ माडर्न इनिडया, रानीखेत, परमानेन्ट ब्लैक।

राजकुमार रावण, 2012 : "बीएसमी ऐज ऐन इन्स्ट्रमेन्ट आफ सोशल इन्क्लूजन पृष्ठ–566, 581 इन आर बी० एस० वर्मा, आर० के ० सिंह एन्ड पूजा वर्मा (सम्पादक), शेडस आफ इन्क्लूजन एन्ड इक्सक्लूजन इन इनिडया, लखनऊ, न्यू रायल बुक कम्पनी।

राम मनोहर लोहिया, 1962 : दि कास्ट सिस्टम, हैदराबाद, नवयुग।

राम मनोहर लोहिया, 1963 : मार्क्स, गाँधी एन्ड सोसिलज्म, हैदराबाद, नवयुग।

वैलरियन राड्रेजिजेस, 2007 : दि इसेनिसयल राइटिंग्स आफ बी० आर० अम्बेडकर, नई दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।

भगवान दास,2000 : दस स्पोक अम्बेडकर, चार खंडों में, लखनऊ, दलित टुडे प्रकाशन।

भगवान दास 1996 : बाबा साहेब अम्बेडकरः एक परिचय–एक संदेश, लखनऊ, दलित टुडे प्रकाशन

भगवान दास 1996 : बाबा साहेब अम्बेडकर और भंगी जातियाँ, लखनऊ, दलित टुडे प्रकाशन

छेदीलाल साथी, 1992 : भारत की आम जनता शोषण से मुक्त वा अधिकार युक्त कैसे हो, लखनऊ, बहुजन कल्याण प्रेस

कैलाश नाथ शर्मा, 1990 : वर्ना एण्ड जाति इन इनिडयन ट्रेडिनल पर्सपेकिटव, सोसालाजीकल बुलेटिन : 39 : 1 एन्ड 2 : 15–32

मैसूर श्रीनिवास, 1962 : कास्ट इन इनिडया एन्ड अदर एसेज, मुंबई, एशिया।

मैसूर श्रीनिवास, 1965 : सोशल चेंज इन माडर्न इनिडया, मुंबई, एशिया।

मैसूर श्रीनिवास, (सम्पादक), 1992 कास्ट इन इटस टवन्टीयथ सेंचुरी अवतार, नई दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।

योगेन्द्र यादव, 2010 : व्हाट इज लिविंग एन्ड व्हाट इज डेड इन राम मनोहर लोहिया, इकोनामिक एन्ड पोलिटिकल वीकली (लोहिया अंक), अक्टूबर

योगेन्द्र यादव, 2012 : अम्बेडकर एन्ड लोहियाः ए डायलाग आन कास्ट, सेमिनार : 629

हरनाम सिंह वर्मा, 1980 : पोस्ट इन्डेपेन्डेन्स चेंज इन रुरल इनिडयाः ए पाइलट स्टडी आफ एन उत्तर प्रदेश विलेज, नई दिल्ली, इन्टर–इनिडया पब्लीकेसन्स।

हरनाम सिंह वर्मा, 1982 : करेक्टर एन्ड फन्कसनिंग आफ रुलिंग पार्टीस एन्ड फेडरल पोलिटी इन इनिडया, पश्ठ 170–205 इन के मैथ्यू कुरियन एन्ड पी० एन० वरघीस (सम्पादक), सेन्टर–स्टेट रिलेसन्स, नई दिल्ली, मैकमिलन्स,

हरनाम सिंह वर्मा, 1997 : डा० बी० आर० अम्बेडकर एन्ड फ्रेमिंग आफ दि इनिडयन कान्स्टीटूश्यन ए कन्टेमपोरेरी रिअसेसमेन्ट, पेपर प्रेजेन्टेड टू दि सेमिनार आन डा० अम्बेडकर एन्ड फ्रेमिंग आफ दि इनिडयन कान्स्टीटयूसन, बी० आर० अम्बेडकर युनिवर्सिटी, लखनऊ, 6 अप्रैल

हरनाम सिंह वर्मा, 2005 : इवूलूसन आफ केस ला आन कम्पेनसेटरी डिस्क्रीमिनेशन (1950–1990): ए कन्टेम्पोरेरी रिअसेसमेन्ट आफ मार्क गैलेन्टर एन्ड हायर जुडीसियरी इन इनिडया फ्रामदि प्वाइन्ट आफ व्यू आफ

दि ओबीसजी, पश्ष्ठ 325–342 इन हरनाम सिंह वर्मा (सम्पादक) दि ओबीसीज एन्ड दि रुलिंग क्लासेज इन इनिडया, नई दिल्ली एन्ड जयपुर, रावत पबिलकेसन्स।

हरनाम सिंह वर्मा, 2006 : डेवलेपमेन्ट एन्ड डिप्राइवेशनः रिलेटिव स्टेटस आफ डिफरेन्ट सोसल कटेगरीज इन उत्तर प्रदेश इन दि पोस्ट–इन्डेपेन्डेन्स पीरियड, पश्ष्ठ 84–103 इन डी० एम० दिवाकर एन्ड जी० पी० मिश्र (सम्पादक), डिप्रावेशन एन्ड इन्क्लूजिव डेवलपमेन्ट, नई दिल्ली, एन्ड लखनऊ, मानक एन्ड गिरि इन्स्टीटयूट आफ डेवलपमेन्ट स्टडीज।

हरनाम सिंह वर्मा, 2006 : व्हाट इट मीन्स टू बी एन ओबीसीज इन दि लाइव कार्टस आफ इनिडयन सोसायटी, इकोनमी एन्ड पोलिटी? इन हरनाम सिंह वर्मा, (सम्पादक)दि ओबीसीज एन्ड दि डाइनिमिक्स आफ इक्यूलूजन इन इनिडया, नई दिल्ली, सीरियल पबिलकेशनस।

हरनाम सिंह वर्मा, 2006 : दि ओबीसी आइडेनिटटी एन्ड ट्रीटमेन्ट आफ दि ओबीसीज बाई दि मेनस्ट्रीम रुलिंग पोलीटिकल पार्टीज इन इनिडया, पश्ष्ठ 144–209 इन हरनाम सिंह वर्मा (सम्पादक), दि ओबीसीजकृकृ

हरनाम सिंह वर्मा, 2006 : रिलेटिव स्टेटस आफ डिफरेन्ट सोशल कटेगरीज इन यू०पी० इन दि पोस्ट–इन्डेपेन्डेन्स पीरिएड, सेकेन्ड काँशीराम मेमोरियल लेक्चर, आरगनइज्ड बाई दि काँशीराम शोध पीठ, डिपार्टमेन्ट आफ सोशल वर्क, यूनीवर्सिटी आफ लखनऊः 15 मार्च।

हरनाम सिंह वर्मा, 2009 : डेवलपमेन्ट इन उत्तर प्रदेशः इमरजन्स आफ कल्चर आफ बैकवर्डनेस, पश्ष्ठ106–151 इन अरुण कुमार सिंह (सम्पादक) स्टडीज इन सोसल इक्सक्लूजन इन इनिडयन सोसाइटी, लखनऊ, न्यू रायन बुक कम्पनी।

हरनाम सिंह वर्मा, 2011 : कास्ट, कास्ट क्सचन एन्ड दलित क्वसचन, इस्टन अन्थ्रोपोलोजिस्टः 64 : 4:

हरनाम सिंह वर्मा, 2012 : एस. सीजः फ्राम दि अनटचैबुलत टु दि दलितस, टू दलित इन्ट्रपन्थोस, पश्ष्ठ 342–377 इन आर बी० एस० वर्मा आर. के सिंह, और पूजा वर्मा (सम्पादक), शेडस आफ इनकलूजन एन्ड इक्सक्लूजन इन इनिडया, लखनऊ, न्यू रायल बुक कम्पनी

हरनाम सिंह वर्मा, 2012ए : दि दलित्स, एन्ड दि स्टेट इनीशियेटिव्स इन इनिडया, पेपर प्रेजेन्टेड टु दि इन्टर साइन्स काँग्रेस आन अन्थ्रोपोलोजी–2012, डिपार्टमेन्ट आफ अन्थ्रोपोलोजी, लखनऊ युनिवर्सिटी, लखनऊ।

हरनाम सिंह वर्मा, 2012बी : कास्टइज्म एन्ड कास्ट कान्फलीक्टस इन नदीम हसनैन और हरनाम सिंह, भारतीय की समसामयिक सामजिक समस्यायें, (प्रेस में)

हरनाम सिंह वर्मा एन्ड अरुण कुमार सिंह, 2005 : डिबेट आन आइडेन्टीफिकेशन, सिडीउलिंग एन्ड रिर्जवेशन फार दि ओबीसीजः मिसडाइरेक्शन, डिस्इन्फारमेशन एन्ड पारटीजनसिप बाई मेनस्ट्रीम सोशल साइनिटस्टस पश्ष्ठ 278–324. इन हरनाम सिंह वर्मा (सम्पादक), दि ओबीसीज एन्ड दि रुलिंग क्लासेज इन इनिडया, नई दिल्ली और जयपुर, रावत पब्लीकेशनस।

हरनाम सिंह वर्मा, राम अभिलाष वर्मा एन्ड जय सिंह 2006 पावर शेयरिंग बाई डिफरेन्ट सोसल कटेगेरीज : इक्सक्लूसिविटी एन्ड एक्सक्लूजन इन उत्तर प्रदेश विफोर दि इन्ट्रोडक्शन आफ, 27 परसेन्ट रिर्जवशेन फार दि ओबीसीज इन हरनाम सिंह वर्मा (सम्पादक), दि ओबीसीज एन्ड दि डाइनामिक्स आफ सोसल इक्सक्लूजन इन इनिडया, नई दिल्ली, सीरियल पब्लीकेशन्स।

नीता वर्मा, 2005 : दि प्रेस एन्ड अदर ओपिनियमन मेकर्स इन दि डिस्कोस आन दि रिजर्ववेशन ईशू पश्ष्ठ 193–224 इन हरनाम सिंह वर्मा (सम्पादक), दि ओबीसीज एन्ड दि रुलिंग क्लासेज इन इनिडया, नई दिल्ली और जयपुर, रावत पब्लीकेशन्स।

ए० के० वर्मा, 2004 : कास्ट एन्ड पोलटिकल मोवीलाइनेशन, इकोनामिक एन्ड पोलिटिकल वीकली, दिसम्बर 18 : 5463–5466.

हरनाम सिंह वर्मा, 2007 : रिवर्स सोसल ओसमासिस इन उत्तर प्रदेश, इकोनामिक एन्ड पोलीटिकल वीकली, मार्च 10–16:

हरनाम सिंह वर्मा, 2009 :आइडियालाजी एन्ड कास्ट इन उत्तर प्रदेशः ए थ्योरी आफ सोशलल ओसमासिस एन्ड रिवर्स सोशल ओसमासिस इन अरुण कुमार सिंह (सम्पादक), स्टडीज इन सोशल इक्सक्लूजन इन इनिडयन सोसइटी, लखनऊ, न्यू रायल बुक कम्पनी।

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna2016
वर्ष 2, अंक 1–2, 2016, पृ. 61–63

पुस्तक समीक्षा

माजी, महुआ 2010रू मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, पृ. 402 मूल्य रु. 495।

महुआ माजी द्वारा लिखित उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, आदिवासियों के सरल जंगल–जीवन पर लिखा अत्यन्त मार्मिक, संवेदनशील व शोधपरक उपन्यास है। लेखिका ने आदिवासियों की जंगल–जीवन में अंतरंगता और आदिवासी इलाकों में रेडियोएक्टिव पदार्थ यूरेनियम के खनन से होने वाले प्रदूषण, विस्थापन, विकिरण तथा उसके परिणामस्वरूप होने वाली शारीरिक व सामाजिक समस्याओं की सूक्ष्म तथा गहन विवरणों के साथ व्याख्या की है। लेखिका ने कथा के विकास के लिए बड़ा शोध किया है, घटनाओं की व्याख्या के लिए समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का प्रयोग भी किया है। एक ओर लेखिका का आदिवासी जीवन के प्रति गहन तथा सूक्ष्म अध्ययन, तथ्यों की जानकारी का अपार संग्रह है, दूसरी ओर संसार के विभिन्न द्वीपों में रहने वाले आदिवासियों पर यूरेनियम जैसे पदार्थ के रेडिएशन तथा विकिरण से होने वाले गम्भीर प्रभाव एवं परिणामों का विश्लेषण है। इसे नियंत्रित करने में एन0जी0ओ0, डाक्यूमेंट्री फिल्म्स तथा गांवों में छोटे–छोटे समूहों में जागरूकता अभियान के माध्यम से लेखिका ने वैश्विक स्तर पर इसे एक गम्भीर चिन्तनीय विषय के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है।

लेखिका की कल्पना में 'मरंग गोड़ा' झारखण्ड–जमशेदपुर से 25–30 किमी0 दूर एशिया का सबसे घना – 'साल' का जंगल, मगर लौह अयस्क खदानों की वजह से क्रमशः प्रदूषित होता 'सारंडा' सात सौ पहाड़ियों के घने जंगल में बसा 'हो' व 'संताली' आदिवासियों का गांव है। तीन पीढ़ियों, जाम्बीरा–रेकाण्डा–सगेन से गुजरते हुए उपन्यास में आदिवासीय प्राकृतिक जीवन का सरसतापूर्ण वर्णन किया गया है। आदिवासियों का प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम, देवता माने जाने वाले 'साल' के मजबूत वृक्षों से पाने वाली सुरक्षा का अहसास, महुआ के फूलों की महक और जंगली जानवरों पक्षियों तथा जंगल का विविधतापूर्ण स्वभाव समझने की अकूत परख का वर्णन रोचकता लिये हुए हैं।

आदिवासियों की जंगल से अन्तरंगता, विश्वास रीति–रिवाज तथा भाषा का सूक्ष्म विवरण करने में लेखिका की समझ तथा ज्ञान की अभिव्यक्ति विस्मित कर देने वाली है। लेखिका ने कथा को अधिक जीवंत बनाते हुये लोक भाषा के शब्दों का प्रयोग किया है जैसेः जियंग–दादी; ततंग–दादा; डियंग–शराब; जोआर–नमस्ते; दैनिक जीवन का रहन– सहन लाल चींटो वाली लहसुन मिर्चे की स्वादिष्ट चटनी। संस्कृति – देवता–सिंगबोंगा जो अपनी जांघ के मैल से केंचुयें बना देते हैं। रीति रिवाज – मृत्यु का संस्कार हिन्दू सामाजिक व्यवस्था जैसी ही तेरहवीं की व्यवस्था का इतना

विविधता पूर्ण वर्णन है जिसमें आदिवासियों के जीवन का हर पक्ष सम्मिलित है। जंगल की समझ तथा जंगल के आदमखोर शेर का स्वभाव और उसका अपने शिकार की तलाश करने के तरीकों को बड़ी कुशलता से व्याख्यायित किया है।

दूसरी ओर कथानक आदिवासीय जीवन से जुड़ी छोटी–छोटी घटनाओं व रोमांचक किस्सों को समेटते हुए 'मरंग गोड़ा' में 'बाहरी लोगों' के आने वहां के प्राकृतिक संसाधनों की खोज और उसके मनमाने प्रयोग करने की ओर अग्रसरित होता है। कथा का मुख्य पात्र सगेन का ततंग (दादा) जाम्बीरा, जो जियोलॉजिस्ट को 'पत्थरों का डॉक्टर' समझता है, जो पत्थरों की जांच करते हैं और उसमें से उपयोगी व मूल्यवान पत्थरों को खोज निकालते हैं, जाम्बीरा जैसे सरल आदिवासी जो बाहरी लोगों के स्वार्थ तथा इसके खतरनाक परिणामें से अनभिज्ञ हैं वे नहीं जानते कि यही पत्थरों की खोज 'मरंग गोड़ा' को खदानों का इलाका बना देगी, जिसमें लौह खदानों से लेकर यूरेनियम की खदानें शामिल है, जिससे प्रदूषण, विस्थापन तथा विकिरण के खतरे व्यापक स्तर पर बढ़ते हैं। जाम्बीरा इन पत्थरों की खुदाई को विकास का मानदण्ड मानकर अपने आदिवासी समूह व आने वाली पीढ़ी के लिए उन्नति का मार्ग समझता है, उसमें बाहरी लोगों के साथ मिलकर काम करने की उम्मीद में उन पर विश्वास कायम करता है। आदिवासियों से सहोदरों का रिश्ता रखने वाला जंगल टूटे पत्थरों और उससे उठने वाली खतरनाक रासायनिक धूल से भरकर बीमार हो गया, खदानों से निकलने वाला कीमती पदार्थ यूरेनियम अपने साथ बहुत सा रासायनिक कचरा ले आया, जिसे सहेजना तथा मासूम लोगों को उससे होने वाली गंभीर क्षति से बचाने की तरफ किसी का भी ध्यान नहीं गया। प्रदूषण व विकिरण जहर की तरह आदिवासियों के घरों, छतों, बच्चों के क्रीड़ास्थल, खदान के मजदूरों के जूतों कपड़ों पे लदी रासायनिक धूल, भोजन, पानी, नदी, तालाबों की तह तक फैल गया।

खदानों से प्रदूषण, विकिरण विस्थापन और आदिवासियों की समस्याओं का अर्न्तसम्बन्ध ध ीरे–धीरे परिवर्तन का एक भयंकर रूप सामने ले आया, आदिवासियों की छटपटाहट बढ़ने लगी, उन्हें महसूस हुआ कि उनके साथ छल–कपट जैसा कुछ हो रहा है पर जब तक वे इसे समझ पाते आदिवासियों का प्राकृतिक जीवन गंभीर, जेनेटिक बीमारियों एवं शारीरिक समस्याओं से घिर गया था। लोगों की परेशानियां, असंतुष्टियां, बाहरी लोगों से शोषण और असुरक्षा उन्हें उद्वेलित कर रही थीं, अपने पूर्वज 'हो' योद्धाओं की वीरता को याद कर वे भी एकजुट होने लगे और आन्दोलन को तैयार हुये। सगेन जो नगरीय संस्कृति से जुड़कर शिक्षित होकर वापस आदिवासियों के बीच पहुंचा और एन0जी0ओ0 तथा फिल्मकार आदित्य श्री के साथ मिलकर इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार की। आन्दोलन के माध्यम से लेखिका ने यूरेनियम तथा उसके रासायनिक अवशेष में रेडियम, थोरियम, रेडॉन गैस तथा अल्फा, बीटा गामा किरणों से होने वाले गंभीर परिणामों की विस्तृत व्याख्या की है जो ज्ञानवर्धक है– ''यूरेनियम प्रकृति में पाई जाने वाली सबसे भारी धातु तो है ही प्राकृतिक यूरेनियम का अर्धजीवन ही करीब साढ़े चार खरब (बिलियन) वर्ष है। यह एक ऐसा रेडियोधर्मी तत्व भी है जो धीरे–धीरे ऊर्जा की किरणों को बिखेरते हुये नष्ट होता जाता है .... रेडियोधर्मी क्षयन के दौरान दो तरह के विद्युतीय कण निकलते हैं – अल्फा तथा बीटा कण। इसके अतिरिक्त शक्तिशाली गामा किरणें भी उत्पन्न होती हैं, अल्फा, बीटा तथा गामा किरणें हमारे शरीर की जिन्दा कोशिकाओं में प्रवेश करके उसमें जेनेटिक विघ्न पैदा करती हैं। विश्व के अन्य देशों के साथ ही लेखिका भारत तथा पाकिस्तान के परमाणु संयत्रों की होड़ के नकारात्मक पक्षों

को रखते हुए आदित्य श्री से कहलाती है– ''परमाणु संयंत्रों में एक हजार मेगावाट बिजली पैदा करने से करीब 27 किलोग्राम रेडियोधर्मी कचरा उत्पन्न होता है और उसे निष्क्रिय होने में एक लाख साल से ज्यादा लग जाते हैं''। ये सूचनायें कथा को विस्तार और अर्थ देने के लिये हैं, कई बार यह विस्तार अनावश्यक सा हो जाता है तथा कथा की रोचकता को कम करने लगता है पर यह अनावश्यक सा लगने वाला विस्तार ही है जो शोधपरक सूचनायें इकट्ठी कर देता है यह उपन्यास के केन्द्रीय बिन्दु को व्यापक अर्थ देकर विनाश के उपकरणों के यथार्थ का खुलासा भी कर जाता है। लेखिका ने मरंग गोड़ा के आदिवासियों के साथ ही साथ सम्पूर्ण विश्व के आदिवासियों के साथ हुई ऐसी अमानवीयता का उल्लेख किया है – ''..... अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रान्स द्वारा किये जाने वाले न्यूक्लियर टेस्ट से होने वाला रेडिएशन, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के निकट प्रशांत महासागर के छोटे–छोटे द्वीपों में रहने वाले आदिवासियों की रेडिऐशन से सुरक्षा आदि के प्रयास अमेरिका के 'नवाहों' आदिवासियों की सृष्टिकथा में भी है कि ''यूरेनियम को धरती के अन्दर ही छोड़ दिया जाना चाहिये। इसे जमीन से बाहर निकालने पर यह सांप बन जायेगा। जिससे अपमृत्यु व विनाश होगा।''

असल में सम्पूर्ण विश्व के आदिवासियों को तथाकथित सभ्य समाज ने विकास के अपने मापदण्डों की पूर्ति के लिये उसे पतन की ओर धकेल दिया है। प्रकृति के निकट के जीवन की अपनी विषेशतायें हैं, अपनी स्वच्छंदता है, विकास तथा सत्ता के लिये वह जीवन महत्वहीन है लेकिन उन जंगलों के नीचे की सम्पत्ति तथा समृद्धि को पाने के लिये इस समाज ने पृथ्वी का तथा आदिवासियों का दोहन किया।

लेखिका ने कथानक में घटनाओं की व्याख्या के लिये समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों व शब्दावलियों का प्रयोग भी किया है जैसे– मरंग गोड़ा के शोध अध्ययन में प्रज्ञा आदित्य श्री के साथ मिलकर अध्ययन करने का आग्रह कर रही है जिसे How Thrown Exp. के संदर्भ देते हुये कहती है– ''आजकल विकसित देशों में सहकर्मियों के बीच के अंतरंग सम्बन्धों को अच्छी नज़र से देखा जाता है। लोग यह मानकर चलते हैं कि इससे काम अच्छा होता है।''

लेखिका की समाजशास्त्रीय दृष्टि कथानक को उसकी जटिलताओं व विस्तृताओं में पेश करती है। कथानक में एक गम्भीर वैश्विक चिन्ता को मानवीय सम्बन्धों तथा अंर्तक्रियाओं के मध्य पिरोकर रोचक बनाने का प्रयास किया गया है। आदिवासियों पर रेडियो एक्टिविटी के परिणामों की व्याख्या तथा यूरोपीय देशों की समग्रता में परमाणु प्रयोग प्रभाव तथा परिणाम का जो विस्तार दिया है वह भारतीय आदिवासियों को वैश्विक आयाम देता है, एक तरीके से उनकी समस्याओं के सामान्यीकरण करने का प्रयास है। हालाँकि कहीं–कहीं सूचनाओं का अर्थयुक्त विस्तार कथा की रोचकता को कम करने लगता है। इस कारण वर्णन उबाऊ होने के नजदीक पहुँच जाता है लेकिन उपन्यास अधिकतर जिज्ञासा व रूचि को बनाये रखता है।

डा0 रचना रंजन
समाजशास्त्र विभाग,
बाबा भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ

APPLICATION FORM FOR SUBSCRIPTION

The Editor
NAVRACHNA

Sir,
I would like to subscribe 'NAVRACHNA' Hindi Journal for the year 20...., vol. ..., no. .... and therefore remit Rs. 300/500/700 by cash/draft/online transfer* as subscription fee for one year/two years/three years as individual subscriber/institutional subscriber respectively.

Yours faithfully,

Signature

(The institutional subscription rate is Rs.500 for one year)

Full Name in Block Letters
(Underline the Surname in case of individual subscriber)
Mailing Address...

....

Telephone No.Landline...Mobile...

E-mail address...

Payment details: NEFT/RTGS/IMPS Online transfer no. ....
dated..........................Amount.............................Bank..
Transaction reference no. ....

Address for Correspondence: ***Prof. V. P. Singh***
Editor, NAVRACHNA
B-505, Srishti Imperial Heights, 18/19 Stanley Road
Prayagraj 211002 (UP)
E-mail: grefiplus2018@gmail.com;
Mobile No.: 09235608187 (whatsapp no.)

** Online Transfer can be made in favour of "Global Research and Edu-Foundation India" in Account No. 50200043289227; HDFC Bank, Pallavpuram, Meerut, IFS code: HDFC0001462; Transfer receipt along with filled in Applization form must be sent to the Editor either by e-mail/whatsapp only.*

Our website: www.grefiglobal.org

Back issues are also available for individuals/institutions on the following rate excluding bank transaction charges if any.

For Individuals*: Vol.1, No.1 (2015) INR 150; Vol.1, No.2, (2015) INR 150; Vol.2, No.1&2, (2016) INR 300; Vol.3, No.1&2, (2017) INR 300; Vol.4, No.1&2, (2018) INR 300. Single article in pdf format is available at the rate of INR 50 per article.*

Institutions: INR 500 per volume.

फार्म 'बी'

सम्पादक का नाम, राष्ट्रीयता व पता	:	प्रो. वीरेन्द्र पाल सिंह भारतीय 18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
प्रकाशक का नाम, राष्ट्रीयता व पता	:	प्रो. वीरेन्द्र पाल सिंह भारतीय 18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
अवधि	:	छःमाही
प्रकाशन का स्थान व पता	:	इलाहाबाद–18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
स्वामी का नाम, राष्ट्रीयता व पता	:	प्रो. वीरेन्द्र पाल सिंह भारतीय 18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
लेजर टाइप सैटिंग	:	ई.टी.डी.आर. कम्प्यूटर्स सी–28, पल्लवपुरम, फेस प्रथम, मेरठ–250110
मुद्रक का नाम व पता	:	साहिल प्रिंट मीडिया, 256, मोहन पुरी, मेरठ